ज्ञान समुच्चय सार

[द्वितीय खण्ड]

: मूल लेखक :

१६ वीं शताब्दीके महान् आध्यात्मिक पुरुष

सन्त श्री तारणस्वामी

: गद्य व पद्यानुवादक :

तारणस्वामीके व अन्य जैन ग्रन्थोंके अनुवादक

श्री अमृतलाल "चंचल"

: सम्पादक :

समाजरत्न, धर्मदिवाकर

श्री ब्रह्मचारी गुलाबचन्दजी महाराज

निसईजी क्षेत्र (मल्हारगढ़) म० प्र०

: प्रकाशक :

श्री इन्द्रमणि बहू भोमाबाई कस्तूरीबाई समैया ट्रस्ट, सागर (म. प्र.)

: प्राप्तिस्थान :

निसईजी क्षेत्र, मल्हारगढ (म. प्र.)

: मुद्रक :

पं० परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ

जनेन्द्र प्रेस, ललितपुर (उ० प्र०)

प्रथमावृत्ति	भगवान महावीर २५०० वाँ निर्वाणमहोत्सव	मूल्य
. ५००	श्री तारणस्वामी-तारण जन्म सं. ५२५	चार रुपये

दो शब्द

भारतवर्षमें मध्यकालीन युगमें अनेक सन्त महात्मा हुये हैं जिन्होंने अपनी अटपटी वाणीमें आध्यात्मिक तत्त्वज्ञानका विवेचन किया है। और बादमें उनके मर्मज्ञोंने उसकी व्याख्या करके उसे विशद, विस्तृत और सर्वसाधारणगम्य बनाया है। सोलहवीं शताब्दीमें बुन्देलखण्डमें एक ऐसे ही सन्त पुरुष श्री तारणस्वामीका जन्म हुआ, जिन्होंने अपनी निराली भाषा-शैलीमें उच्चतम आध्यात्मिक तत्वोंका निरूपण किया है। १४ ग्रंथोंके रूपमें उनका मुद्रण भी हो चुका है।

अध्यात्मपुरुष श्री तारणस्वामी द्वारा रचित सूत्रों और गाथाओंका यथार्थ अर्थ समझ पाना विकट काम है, क्योंकि उनकी अपनी भाषा-शैली अलग प्रकार की है। जिन विशेषज्ञ विद्वानोंने उसे समझ-जाना है और उसके यथार्थ रहस्यको सरल सुबोध भाषामें प्रस्तुत किया है, वे निश्चय ही धन्यवादके पात्र हैं।

जैन समाजके ख्यातनाम कवि श्री अमतलालजी 'चंचल' उनमें प्रमुख हैं। इन्हींके द्वारा पद्यानुवाद तथा सरल भाषानुवाद किया हुआ इसी शैलीका एक ग्रंथ "सम्यक् आचार: सम्यक् विचार" सन् १९५८ में प्रकाशित हो चुका है। तदनुरूप ही इस ग्रंथका प्रथम खण्ड मार्च सन् १९७१ में प्रकाशित हुआ था और यह द्वितीय खण्ड आपके हाथमें है। अध्यात्मयोगी श्री तारणस्वामीके गहन ज्ञानको सरल राष्ट्रभाषामें प्रस्तुत करनेके लिये कवि श्री 'चंचल' जीको जितना धन्यवाद दिया जाय कम है।

वर्तमान युगमें आध्यात्मिक महापुरुषोंमें श्री कानजी स्वामीका नाम प्रमुख है। उन्होंने भी तारणस्वामीके अध्यात्मज्ञानकी महिमा गाई है। और उनकी आध्यात्मिक वाणी पर 'अष्ट प्रवचन' किये हैं, जिसके दो भाग मुद्रित हो चुके हैं।

अध्यात्मयोगी श्री तारणस्वामीकी वाणीका सरल पद्य और गद्यमें अनुवाद होकर प्रकाशित होना राष्ट्रभाषाके कोषमें समृद्धि और गौरवका प्रतीक है। श्री ब्र० गुलाबचन्दजी महाराज इस ज्ञान-यज्ञमें प्रमुख होता एवं प्रेरक हैं। समाज उनका सदैव ऋणी रहेगा।

—परमेष्ठीदास जैन, न्यायतीर्थ.

जैनेन्द्र प्रेस. ललितपुर
दि० १-७-७४

अनन्त सुख की ओर

ममल शुद्ध मम आतमा, ध्रुव परमात्म स्वभाव ।
है देहस्थ तथापि वह, अदेह-ज्ञान-स्वभाव ॥४४॥

"निर्मल, शुद्ध मेरा आत्मा, ध्रुव परमात्मस्वभाव वाला है, और देहस्थ होकर भी अदेह है। ज्ञानस्वभाव ही आत्मा का "निज-स्वभाव है"। यह है सम्यग्दृष्टि जीव की घोषणा, अपने शुद्ध स्वभाव के प्रति श्रद्धा, और परद्रव्यों को चुनौती। यहाँ तक कि अपना देह भी अपने आत्मा से पृथक्-पर द्रव्य है। इस एक निर्णय को ही श्री गुरु महाराज ने अपना वैभव बना लिया, तथा शिष्यों को भी दिल खोल कर यह सम्पदा प्रदान कर अनुगृहीत कर दिया।

गुरु समान दाता नहीं, याचक शिष्य समान ।
तीन लोक की सम्पदा, सद्गुरु दीनी दान ॥

यह ग्रन्थ ज्ञान का सागर है, रत्नाकर है। निज स्वरूप को देखने का दर्पण है। जिसे देखना है, देख लेवे, समझ लेवे। द्वादशांग के सार, स्वरूप की प्राप्ति के लिये ज्ञान समुच्चय सार-समुद्र में गोता लगाइये और अथाह की थाह लेकर "जिन खोजा तिन पाइयां, गहरे पानी पैठ" वाली कहावत को सार्थक कीजिये। स्वानुभव का स्वाद ही "ज्ञान समुच्चय सार" है। ज्ञानियों ने इस "ज्ञान-पुंज" को प्रस्तुत किया है, विशेष क्या लिखें! पाठकवृन्द स्वयं स्वानुभूति में ग्रन्थ की प्रतिष्ठा करें एवं अपने लक्ष्य को साधें, यही हमारी शुभ कामना है।

स्यात्पदविभूषित जिन वचन, जिनके हृदय का हार है।
अविलम्ब उनके दृष्टिपथ, आता समय का सार है॥

शुभाकांक्षी—
ब्र० गुलाबचन्द्र।

मेरी शुभ कामना

श्री गुरु तारण तरण स्वामी ने इस ज्ञान समुच्चय-सार ग्रन्थ में, ज्ञान के सम्बन्ध में पर्याप्त विवेचन किया है। निश्चय और व्यवहार इन दोनों दृष्टियों से विस्तृत विचार भी किया है। मंगलाचरण गाथा में पूर्ण "ज्ञान समुच्चय सार" की स्थापना करके, गाथा को अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित किया है कि—"परम-आनन्द, पर्र ज्योति, चिदानन्द, जिन-आत्मा, शुद्ध समय, मेरे निर्विकल्प सोऽहं-स्वरूप में नमस्कृत (स्वीकृत) है। ग्रन्थ को पढ़कर ज्ञान-स्वरूप और ज्ञेय-स्वरूप का सरस अनुभव होता है, साथ ही श्री गुरु तारणतरण देव का आध्यात्मिक जीवनचरित्र पढने को मिलता है।

जिस आत्मा और ज्ञान को उन्होंने प्ररूपित किया है, क्रियात्मक जीवन-परिचय "तारण तरण" का यही है। विशेष मैं क्या लिखूं? इसी ग्रन्थ में श्रीमान् सिद्धान्तशास्त्री प० फूलचद जी सा० बनारस, ने प्रस्तावना लिखी है, उसमें आपने ग्रन्थ को दर्पणवत् प्रतिबिम्बित किया है। हम पं० जी के आभारी हैं, एवं आशा करते हैं कि इसी प्रकार अन्य ग्रन्थों का भी खोजपूर्ण परिचय आपके द्वारा प्रकाश में आता रहेगा।

इस ग्रन्थ का प्रकाशन "श्री इन्द्राणी बहू, भोगाबाई कस्तूरीबाई समैया ट्रस्ट" सागर की ओर से हो रहा है। स्वर्गीय सेठ नन्हेंलाल जी की धर्मपत्नी इन्द्राणी बहू थी। इनके बड़े पुत्र श्री गुरुप्रसाद जी तथा छोटे मूलचन्दजी थे और क्रम से भोगा बाई तथा कस्तूरी बाई इनकी पत्नियां थीं। पिता और दोनों पुत्रों का स्वर्गवास होने पर इन बाइयों ने इस ट्रस्ट की स्थापना की। इसके अतिरिक्त इस दानी परिवार की ओर से पचीसों वर्ष पूर्व एक चांदी का विमान श्री चैत्यालय जी को भेंट में दिया गया था। तथा एक मकान भी, जिसकी कीमत सोलह हजार थी दिया गया। इस ट्रस्ट के अध्यक्ष श्रीमन्त स० भू० सेठ भगवानदास जी सागर तथा मन्त्री श्री डमरूलाल जी सागर है। इन सुयोग्य संचालकों के द्वारा इस ट्रस्ट के सम्पूर्ण द्रव्य का धार्मिक कार्यों में ही सदुपयोग हुआ है, हो रहा है, और होगा। इस सुव्यवस्थित धार्मिक संस्था की दिनोंदिन उन्नति की कामना करते हुये संचालकों को हम कोटिशः धन्यवाद देते है तथा उनके इस आदर्श का अनुकरण करने के लिये समाज के अन्य सभी ट्रस्ट एवं संस्थाओं से आग्रहपूर्ण निवेदन करते है।

"वीतराग विज्ञान शिक्षण शिविर" छिन्दवाड़ा में दिनांक २५ मई ७४ से १३ जून ७४ तक आयोजित था । उसके उद्घाटनकर्ता श्रीमन्त सेठ सा० स० भू० जी सागर को बनाया गया । श्रीमन्त दाजी छिन्दवाड़ा पधारे । साथ में सिंगोड़ी से मुझे भी ले लिया । छिन्दवाड़ा पहुंचे । शिविर का उद्घाटन श्री दाजी के द्वारा हुआ, और उद्घाटन भाषण को उपस्थित जनता तथा विद्वानों ने बड़े ध्यान से सुना । एक-एक शब्द में शान्ति, समाधान और कर्तव्य की ओर संकेत मिल रहा था। हमने और अनेक बन्धुओं ने श्री दाजी का ऐसा भाषण पहिली बार सुना था, अतः बड़ा ही आश्चर्य हमको हो रहा था । इस प्रकार उद्घाटन-समारोह के पश्चात् श्री दाजी "श्री तारण तरण भवन" छोटी बाजार में, आपके स्वागतार्थ उपस्थित तारण समाज के बीच उपस्थित हुये, तथा अनेक सामाजिक चर्चाएं आत्मीयता के वातावरण में हुईं ।

छिन्दवाड़ा के सर्व कार्यक्रमों को सम्पन्न करके श्रीमन्त सा० पुनः सिंगोड़ी पधारे तथा यहां भी उपस्थित समाज के भावभीने वातावरण को सफल बनाया । श्री सिं० नोखेलाल जी जो कि अस्वस्थ थे, उन्हें देखने श्री दाजी उनके निवास स्थान पर पधारे और उनसे भी अनेक चर्चाएं कीं। पश्चात् मुझे अपने साथ लेकर सागर आये । यहां भगवान महावीर निर्वाण शताब्दी महोत्सव समिति तथा विद्वत्परिषद का सम्मेलन था श्री दाजी इस सम्मेलन के भी स्वागताध्यक्ष थे। २६-५-७४ को कटरा में जनरल अधिवेशन में आपका भाषण हुआ, एवं सभा सम्पन्न हुई ।

बनारस से श्रीमान् प० फूलचंद्र जी सि० शा० इस सम्मेलन में पधारे थे। दिनांक २६-५-७४ को ही रात्रि में श्रीमान् पण्डित जी तथा हम लोग सभी श्रीमान् दाजी के साथ उनके निवास स्थान बगीचा के भवन में आये तथा पण्डित जी से हमारी तारण साहित्य के विषय में चर्चा हुई, प्रस्तावना देखी । आपके विचारों को सुनकर हमको तथा सभी उपस्थित सज्जनों को हार्दिक प्रसन्नता हुई । तथा तारण-तरण-साहित्य का आपके द्वारा यथायोग्य संपादन होगा, सबको यह जान कर आशा हुई कि हमारे साहित्य का गौरवमय उत्कर्ष का यह सुअवसर हमको प्राप्त हो रहा है । और इसका सम्पूर्ण श्रेय श्रीमन्त सेठ सा० को है । आपकी भावना है कि शीघ्र से शीघ्र यह सब कार्य हों, क्योंकि जीवन थोडा है, कार्य बहुत है । कितनी भारी लगन और तत्परता श्री दाजी के मन में है । हम तो श्री जिनेन्द्र देव तथा श्री गुरु महाराज से प्रार्थना करते हैं कि श्री दाजी की मनो-भावना को पूर्ण सफलता प्राप्त हो, और यह परमार्थ का महान् कार्य प्रभावना के साथ सिद्ध और प्रसिद्ध हो ।

सिंगौडी
(छिन्दवाड़ा)

श्री गुरुचरण सेवक—
जयकुमार

सत्य की खोज एवं उसकी उपलब्धि अनादि से संत महापुरुषों का जीवन-लक्ष्य रहा है। स्व-स्वरूप की रहस्यमय गुफा के द्वार पर पहुंचकर जिस ज्ञान-किरण का वे दर्शन करते हैं उसी किरण के अवलम्बन से अंतस्तल में जाकर पूर्ण स्वभाव के प्रकाश को अनुभव करते हैं। ऐसे ज्ञान स्वभाव को ही आचार्य कुंदकुंद ने स्वसमय, आत्मा, समयसार एवं संत तारण तरण स्वामी ने "ज्ञान समुच्चय सार" कहा है। इस ज्ञान समुच्चय सार ग्रन्थ में गुरु तारण तरण ने एक सूत्र का प्रयोग किया है "ज्ञानेन ज्ञान वृद्ध" ज्ञान से ही ज्ञान की वृद्धि होती है। चाहे उस ज्ञान का माध्यम देव, गुरु या आगम कोई भी हो।

आत्मपुरुष संत तारण तरण ने 'ज्ञान समुच्चय सार' में स्वस्वभाव एवं उसकी प्राप्ति का उस समय की बोली (लोक भाषा में) सरस, भावपूर्ण, काव्यमय शैली द्वारा मार्गदर्शन किया है। भाषा का कोई बन्धन स्वीकार न कर स्वरूप की प्राप्ति के लक्ष्य का सीधा निर्देश किया है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, गुरुदेव तारण तरण के पश्चात् ज्ञान समुच्चय सार की प्रथम भाषा टीका प्रसिद्ध विद्वान जैनधर्मभूषण ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी ने की थी। धर्मदिवाकर, ब्रह्मचारी गुलाबचन्द जी की प्रेरणा एवं सहयोग से कविभूषण अमृतलाल चंचल ने ज्ञान समुच्चय सार का अपनी मधुर-काव्य शैली में पद्यानुवाद कर इसे सरल एवं सुगम बनाने का प्रयत्न किया है।

इस पद्यानुवाद की भूमिका लिखने में जैनजगत के प्रकांड विद्वान समदर्शी पंडित फूलचंद जी सिद्धांत शास्त्री वाराणसी वालों ने बड़ा परिश्रम किया है। उन्होंने अपनी विलक्षण खोजपूर्ण दृष्टि से संत तारण तरण की अनुपम प्रतिभा एवं वैराग्य-ज्योति का जो वैभव इस ज्ञानसमुच्चय सार ग्रन्थ में देखा है उसका किंचित आभास इस भूमिका में मिलता है। श्रद्धेय पंडित जी संत तारण तरण के जीवन एवं साहित्य पर खोज कर रहे हैं। मुझे विश्वास है कि उसके प्रकाश में आते ही समस्त जगत 'ज्ञान समुच्चय सार' की आत्मा के चित्चमत्कार से आलोकित हो उठेगा।

समैया सदन, सागर
५-६-१९७४

विनम्र—
कपूरचन्द समैया "भायजी"
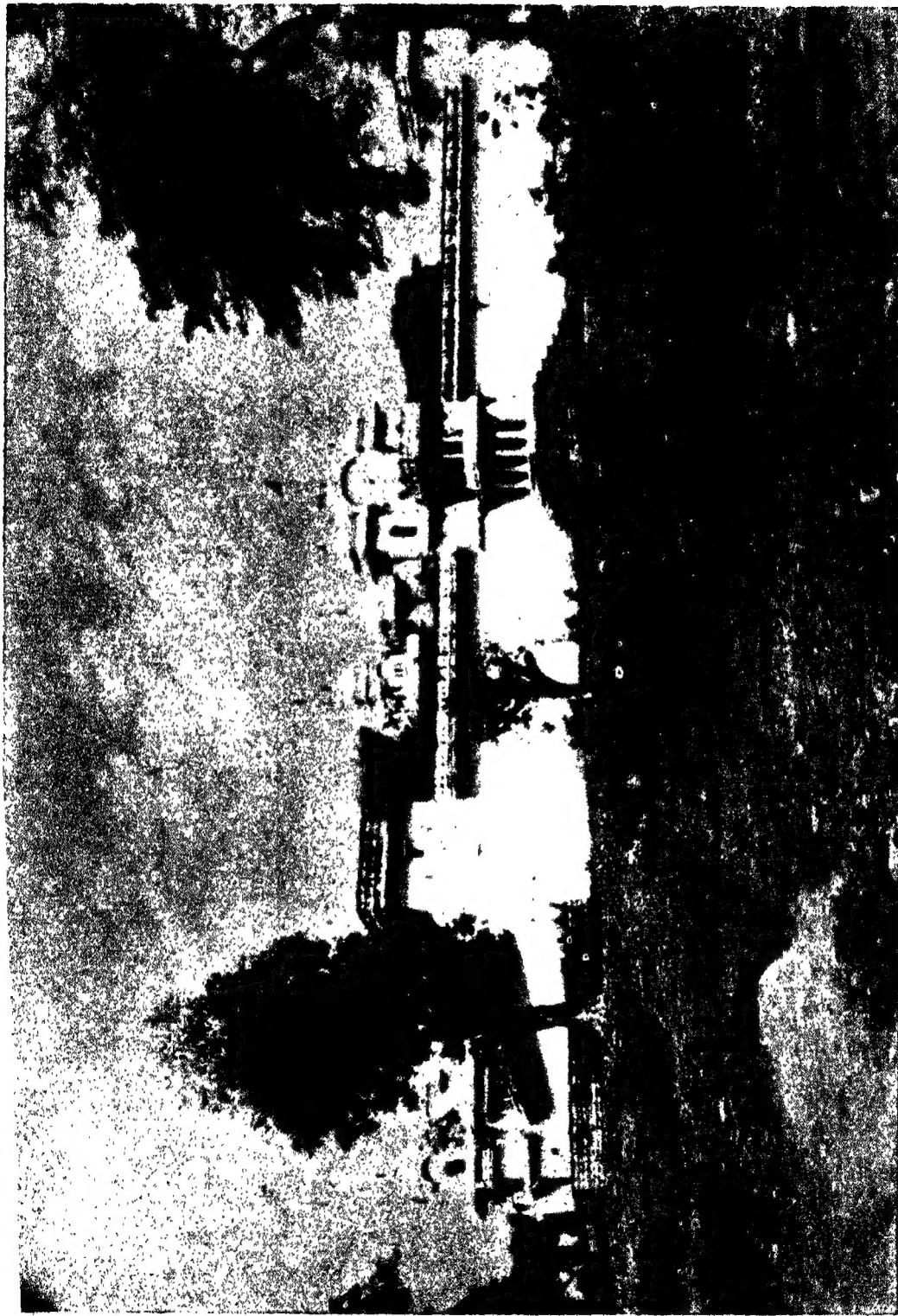
श्री निसईजी क्षेत्र, मल्हारगढका पार्श्वभाग

धर्मग्रन्थों को प्रकाश में लाइये

अन्धकार है वहां जहाँ आदित्य नहीं है ।
है वह निर्बल जाति जहाँ साहित्य नहीं है ॥

तारण-तरण-समाज में लगभग चार-दशक ही हुये हैं कि धार्मिक सामाजिक और साहित्यिक क्रान्ति आई है । यद्यपि गत चालीस वर्ष भी तारण समाज के इतिहास में गौरवपूर्ण रहे हैं, किन्तु इतने से ही सन्तोष कर लेना प्रशंसनीय नहीं है ।

तारण साहित्य का अभी तक जैसा चाहिये वैसा प्रकाशन कम ही हुआ है । अधिकारी विद्वानों के द्वारा ही साहित्य का निर्दोष प्रकाशन होना चाहिये ।

बड़ी प्रसन्नता की बात है कि कुछ उच्च कोटि के विद्वान् एवं सन्तों का सुयोग हमको मिला है । यदि इस समय हम सावधान नहीं हुये, तो कहना पड़ेगा कि हमारा समाज शताब्दियों के लिये पीछे-पिछड़ सकता है । अतः हमारा संकेत है कि तारण-समाज कम से कम साहित्य के विषय में तो जागृत हो और अपने विद्वानों का ज्ञान के कार्य में निष्पक्ष होकर सदुपयोग करे ।

ज्ञान समुच्चय सार ग्रन्थ श्री गुरु तारण तरण स्वामी विरचित है । श्रीमान् स्वर्गीय ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी ने हिन्दी में इसका अर्थ, भावार्थ लिखा है, और अब यह पद्यानुवाद श्री चंचल जी ने किया है । बड़े ही हर्ष और सन्तोष की बात है कि श्रीमान् सिद्धान्ताचार्य पं० फूलचंद जी सिद्धान्त शास्त्री बनारस ने इस ग्रन्थ की "प्रस्तावना" लिखकर ग्रन्थ का नाम सार्थक कर दिया । हम आपके आभारी हैं तथा इस ग्रन्थ के आरम्भ से अन्त तक की सम्पन्नता के लिये पूज्य ब्रह्मचारी जी महाराज के व श्री चञ्चल जी के आभारी हैं । और भी जिन-जिन सज्जनों का सहयोग ग्रन्थ-प्रकाशन में मिल रहा है, हम उन सबके आभारी हैं ।

ज्ञान समुच्चय सार है, अनुभव रस का सार ।
रसास्वाद लें जो रसिक, वे होंगे उस पार ॥

निवेदक—
भगवानदास शोभालाल जैन

सागर (म० प्र०)

प्रस्तावना

१—ज्ञान समुच्चय सार नाम की सार्थकता

श्री ज्ञान समुच्चय सार श्री तारण तरण स्वामी की अनुपम कृति है। इसकी रचना मुख्य रूप से श्री परमागम समयसार जी को आधार बनाकर की गई है। समयसार और ज्ञान समुच्चयसार इन दोनों शब्दों का एक ही अर्थ है। ये दोनों पर्यायवाची नाम हैं। जिसमें ज्ञान का समुच्चय है, अर्थात् जो स्वयं विज्ञानघनस्वरूप है उसे ज्ञान–समुच्चय कहते हैं। प्रकृत में समय शब्द का भी यही अर्थ है। ऐसे ज्ञान समुच्चय स्वरूप अपने आत्मा को लक्ष्य में लेकर जो निर्मलानुभूति स्वरूप होकर ज्ञान–दर्शन स्वभाव में स्थित है उसे ज्ञान समुच्चयसार, समयसार या स्वसमय कहते हैं। प्रकृत ग्रन्थ में स्वामी जी ने अन्य विषयों के साथ इस विषय का मुख्य रूप से विवेचन किया है, इसलिये इसका यह नाम सार्थक है।

यह ग्रन्थ ९०७ गाथाओं में पूर्ण हुआ है। इसका सर्वप्रथम अन्वयार्थ और भावार्थ सहित अनुवाद स्वर्गीय ब्र० शीतलप्रसाद जी ने किया था। स्व० ब्रह्मचारी जी ने अपने जीवन काल में साहित्यरचना आदि के द्वारा जैन धर्म और जैन समाज की जो सेवा की है वह स्मरणीय तो है ही, अनुकरणीय भी है। वे दृढ़निश्चयी महान व्यक्ति थे। उनकी जोड़का इस काल में ऐसा निस्पृही और अपने कर्तव्य के प्रति सतत जागरूक आदमी मिलना दुर्लभ है।

इस समय इस ग्रन्थ का जो गद्य—पद्यवन्ध अनुवाद हमारे सामने है, यह श्री अमृतलाल जी चंचल की स्वतंत्र कृति है। कविता सरस है और गद्यानुवाद की भाषा भी सरल है। परन्तु इन दोनों रचनाओं में समग्ररूप से मूल ग्रन्थ को स्पर्श करने की ओर कम ध्यान दिया गया है। जबकि स्वर्गीय ब्र० सीतलप्रसाद जी ने पूरे ग्रन्थ की गाथाओं में निबद्ध प्रत्येक पद की व्याख्या करने में अपनी शास्त्रानुगामिनी बुद्धि का उपयोग किया है। यहां उक्त तथ्य की पुष्टि में प्रकृत द्वितीय खण्ड की एक गाथा और उक्त दोनों विद्वानों द्वारा रचित उसके अनुवाद को उद्धृत किया जाता है।

एकं जिनं सरूवं जिनरूवं जिनवरेहि निद्दिट्ठं।
जिनयतिकं मतिसुद्धं सुद्धं संमत्त सुद्ध स सरूवं ॥२७६॥

अन्वयार्थ—(एकं जिनं सरूवं) एक ही जिनेन्द्र का स्वरूप (जिनरूवं) जिनरूप दिगम्बर और शुद्ध भावमयी है ऐसा (जिनवरेहि निद्दिट्ठं) जिनेन्द्रों ने कहा है (जिनयतिकं) ऐसा ही रूप जैन के यति का होता है। (मतिशुद्धं) जिनकी बुद्धि शुद्ध होती है (सुद्धं सम्पत्तं) उनमें निश्चय सम्यदर्शन होता है (सुद्धसरूवं) उनका निज अन्तरंग रूप शुद्ध होता है। (ब्र० शीतलप्रसाद जी)

जितने भी जिन हैं, सबका एक समान ही विमल स्वभाव है। सब शुद्ध हैं, बुद्ध हैं और सबका परम उज्जवल रूप है। जिन्होंने शुद्ध ज्ञान को पूर्ण रूप से प्राप्त कर लिया, बस वही जिन संज्ञा के धारी महापुरुष हो जाते हैं। (इसका पद्यानुवाद भी इसी के अनुरूप है)। —श्री चंचल जी।

इस गाथा को निबद्ध करते समय जान पड़ता है स्वामी जी के समक्ष दर्शनप्राभृत की यह गाथा रही है—

एगं जिणस्स रूवं बीयं उक्किट्ठ सावयाणं तु ।
अवरट्ठियाण तइयं चउत्थ पुण लिंगदंसणं णत्थि ॥१८॥

इस गाथा में आचार्य कुन्दकुन्द देवने 'एगं जिणस्स रूवं' इस पद द्वारा सिद्धों को छोड़कर आचार्यादि चारों के वाह्याभ्यन्तर स्वरूप को निबद्ध कर लिया है । स्वामी जी ने इसी का अनुकरण करते हुए अपनी उक्त गाथा के पूर्वार्ध द्वारा अरिहन्तों के वाह्याभ्यन्तर स्वरूप को और उत्तरार्ध द्वारा साधुओं के वाह्याभ्यन्तर स्वरूप को निबद्ध किया है। स्वामी जी द्वारा इससे आगे की रचित कतिपय गाथाओं द्वारा यही ध्वनित होता है । परन्तु चंचल जी ने अपनी रचना में इस तथ्य की ओर कम ध्यान दिया है और केवल अरिहन्तों को लक्ष्य कर इस गाथा का भावपरक अनुवाद कर दिया है।

यह एक गाथा के अनुवाद की स्थिति है । ३८६, ३८८, ३९० संख्या की गाथाओं के अनुवाद में भी इसी प्रकार गाथाओं के समस्त पदों की ओर पूरा ध्यान नहीं रखा गया है । यह संकेत मात्र है ।

मैं अपने इस कथन द्वारा श्री चंचल जी के श्रम को कम नहीं आंकना चाहता । आग्रह यह है कि भविष्य में वे स्वामी जी के मूल ग्रन्थों को आगम समझकर प्रत्येक गाथा के पूरे आशय को स्पष्ट करने में ही प्रवृत्त हों । आगम में व्यक्ति की रुचि मुख्य नहीं है ।

श्री चंचल जी ने इस ग्रन्थ का नामकरण अपनी रुचि के अनुसार ग्रन्थ प्रारम्भ करते समय 'सम्यक् प्रवृत्तिः सम्यक् निवृत्ति' रखा है और ग्रन्थ के मूल नाम 'श्री ज्ञान समुच्चय सार' को प्रथम पृष्ठ के ऊपरी भाग के एक कोने में रख दिया है । ऐसा करते समय वे सम्भवतः इस बात को भूल गये हैं कि व्यवहार के 'सम्यक्प्रवृत्तिनिवृत्तिपरो व्यवहारः' इस लक्षण के अनुसार यह व्यवहारनयपरक नाम हो जाता है, जब कि स्वामी जी के इस ग्रन्थ की अध्यात्म ग्रन्थों में परिगणना होती है । अस्तु ।

२—विषय—परिचय

श्री स्वामी जी ने अपनी रचनाओं में जिन विशेष शब्दों का प्रयोग किया है या जिस दृष्टिकोण से अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की हैं आदि विषयों पर विशद प्रकाश डालने के अभिप्राय से उत्तरकालीन किसी लेखक ने "ठिकाने सार" ग्रन्थ की रचना की है । तत्काल हमारे सामने इसकी तीन प्रतियाँ उपलब्ध हैं । ऐसा लगता है कि मूल में तो एक ही 'ठिकाने सार' ग्रन्थ रहा होगा। किन्तु बाद में इनमें परिवर्तन होता गया । फिर भी उनमें बहुत कुछ सामग्री ऐसी है जो एक रूप में पाई जाती है, उनमें पाँच मतों की चर्चा करते हुए लिखा है:—

मत पांच का निरूपन—विचारमत, आचारमत, सारमत, ममलमत, केवलमत । आचारमत में श्रावकाचार उत्पन्न भया । विचार मत में तीन बत्तीसी कहि व "तिसतें छानवे पाखंड जिने" । सारमत में तीन सार कहिए । ज्ञान समुच्चयसार, उपदेशशुद्धसार, त्रिभंगीसार उत्पन्न भये । ममलमत में मयखिपनिक ममल पाहुड़ ग्रन्थ चौबीसठाना । केवल मत में ग्रन्थ पांच—छद्‌मस्थवाणी, नाममाला, खातका विशेष, सिद्धस्वभाव, शून्य स्वभाव ।

प्रथम प्रति गंज बासौदा की है । उसमें केवल पांच मतों के नाम हैं । दूसरी प्रति बाह्य वैभव से अत्यन्त उदासीन, एकान्तवासी और धर्मकार्यों में सतत सावधान ब्र० गुलाबचंद जी से प्राप्त हुई । तथा तीसरी प्रति खुरई चैत्यालय की है । इनमें से प्रथम प्रति में केवल पांच मतों के नाम हैं। दूसरी प्रति के अनुसार ममल मत में केवल ममल पाहुड़ग्रन्थ लिया गया है । तथा केवल मत के विषय में इतना ही लिखा है—केवल मत की भावना। इन सब प्रतियों में मत के स्थान में मति शब्द का भी प्रयोग हुआ है । मेरा ख्याल है कि यहां 'मत' शब्द विवक्षा के अर्थ में आया है ।

उक्त मतों के अनुसार ज्ञान समुच्चय सार का अन्तर्भाव सारमत में होता है । प्रकृत में सार का अर्थ प्रयोजनीय या उपादेय है । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस जीव के लिये सार अर्थात् उपादेय ज्ञानस्वरूप अपना आत्मा ही है । यही कारण है इस ग्रन्थ में एक मात्र अध्यात्मवृत होने का ही बहुलता से उपदेश दिया गया है ।

जैसा कि हम पहले लिख आये हैं मूल ग्रन्थ का नाम ज्ञान समुच्चसार है । इसमें कुल ६०७ गाथाएँ निवद्ध हुई हैं । प्रथम गाथा में सिद्धों को, दूसरी गाथा में पंच परमेष्ठियों को नमस्कार कर तीसरी तथा चौथी गाथा में अपना आत्मस्वरूप सिद्धों के समान शाश्वत, अमल, पर भावों से रहित अतएव शुद्ध ज्ञान दर्शन आनन्दस्वरूप है यह स्पष्ट किया गया है । पांचवी गाथा में पुनः सिद्धों को नमस्कार कर छठी गाथा में ऋषभादि २४ तीर्थंकरों को नमस्कार किया गया है। सातवीं गाथा में जिनेन्द्र देव की वाणी के अनुसार ज्ञान समुच्चय सार ग्रन्थ लिखने की प्रतिज्ञा की गई है । आठवीं गाथा में ज्ञान समुच्चयसार ग्रन्थ की रचना का प्रयोजन बतलाते हुए जिनवाणी को हृदय में धारण कर जैसे सागर के जल को गागर में भर लिया जाता है इस नीति के अनुसार उसका यत्किंचित् कथन करूंगा, इस प्रकार अपनी लघुता को ध्वनित किया गया है । नौवीं और दसवीं गाथा में बाह्याभ्यन्तर परिग्रहरहित रत्नत्रय धारी गुरु का स्मरण कर ११ वीं गाथा में 'मैं जो कुछ कहूँगा वह जिनवाणी के अनुसार ही होगा' प्रयोजन के साथ इसे पुनः स्पष्ट किया गया है। १२ वीं गाथा में पुनः गुरु के स्वरूप का निर्देश कर १३ से १५ वीं गाथा तक सरस्वती जिनवाणी की महिमा गाई गई है । १६ वीं गाथा में देव गुरु और शास्त्र इन तीनों का समुच्चयरूप से स्मरण कर १७ वीं गाथा में जिनेन्द्र देव का निर्दोष कथन है, संसार मार्ग से छुडा कर मोक्षमार्ग को दिखाने वाला है, वह शाश्वत है, यह स्पष्ट किया गया है। १८ वी गाथा में जिनेन्द्र देव के द्वारा कहे हुए जिस मोक्षमार्ग पर चल कर बुद्धिमान ज्ञाता पुरुषों ने कर्मों को दिखाया है वही मेरा अन्तिम साध्य है। इस प्रकार सिद्ध पद की प्राप्ति में अपनी दृढ़ता प्रगट की गई है ।

भेदविज्ञान धर्म का मूल है। इसे समक्ष कर स्वामी जी ने सर्व प्रथम भेदविज्ञान के अभाव में जीव की क्या दशा होती है यह बतलाते हुए कहा है कि यह जीव अपने अज्ञान के कारण

अनादि काल से संसार में परिभ्रमण कर रहा है। जैसे उल्लू दिन में अन्धा रहता है, उसे सूर्यप्रकाश का भान नहीं होता, वैसे (सम्यग्ज्ञान १९–२१) ही अज्ञान दशा में इस जीव के आत्मज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। आगे (२२-२४) सम्यग्ज्ञान की महिमा को बतलाते हुए लिखा है कि जैसे भास्कर के उदय होने पर [illegible] का अन्त हो जाता है वैसे ही आत्मज्ञान की प्राप्ति होने पर उसके अज्ञानान्धकार का नाश हो जाता है। ऐसा जीव नियम से मुक्तिगामी होता है, इसमें सन्देह नहीं।

सम्यग्दर्शन (२५-३७)

सम्यग्दर्शन का स्वरूप-निर्देश बड़ी हृदयग्राही रोचक भाषा में किया है, जो हृदयंगम करने योग्य है। जो शुद्धनय का विषय है, शुद्ध का साधक है और शुद्ध अनुभूतिसम्पन्न है ऐसा आत्मा ही सम्यक्त्व है। भव्य जीवों द्वारा वह सदा उपासना करने योग्य है। किसी भी गति का जीव हो, लोक के अपने योग्य किसी भी स्थान में स्थित हो, जिसकी अपने स्वभाव की ओर दृष्टि फिरती है वह उसका अधिकारी होता है। वह तीन लोक में सबसे श्रेष्ठ है, शुद्ध बुद्ध स्वरूप है, तीन लोक को विचलित करने वाली बाधा के होने पर भी वह चकायमान नहीं होता। यह छोटा, यह बड़ा, यह कर्माश्रित भाव है, वह उससे विलक्षण अगुरुलघुस्वभाव है। जो सम्यक्त्वगुणसम्पन्न है वही शाश्वत पद का अधिकारी होता है। वह शान्त है, दान्त है, निर्मल गुणों का भण्डार है। जिसे सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हुई है वही पंच परमेष्ठियों के यथार्थ स्वरूप को हृदयंगम कर सकता है। जैसे कलश में शशि दिखलाई देने पर भी वह कलश से अत्यन्त भिन्न है वैसे ही कर्मों से आवृत आत्मा में वह कर्म और इसके निमित्त से होने वाले भावों से अत्यन्त भिन्न है। वह ज्योतिस्वरूप है, वह तत्वज्ञानियों के द्वारा स्वसंवेदनगम्य है। शुद्ध तत्त्व का प्रकाशक होने से उसे निश्चय सम्यग्दर्शन जानो, जैसे जल में होते हुए भी कमल उसे स्पर्श नहीं करता वैसे ही जीव में होने वाले अन्य समस्त शुभाशुभ भावों को वह स्पर्श नहीं करता। यही धर्म पद है, यही परमेष्ठी पद है। पाँच सम्यग्ज्ञानों का प्रकाश उसी के होने पर होता है यह समस्त जिनवाणी का सार है।

स्वभाव से रत्नत्रयस्वरूप आत्मा (३२–४६)

यह आत्मा ही रत्नत्रय धारी ध्रुव तत्व है। यही सर्वज्ञ और अपनी ज्ञानज्योति के द्वारा लोकालोक से अलंकृत है। अपने ज्ञायक स्वभाव शुद्ध तत्व की उपासना द्वारा यही साधु है। यही सर्वज्ञ और सर्वदर्शी पद को प्राप्त करता है। यही ह्रींकार स्वरूप अरिहन्त है, परम मंगल स्वरूप है। यही ओं पदवाच्य पंच परमेष्ठी स्वरूप है। ओं बीजाक्षर के बिन्दु पदवाच्य यही शाश्वत और सुस्थिर सिद्ध पद है। प्रत्येक ज्ञानी अनुभव द्वारा निर्णय करता है कि मेरी आत्मा अत्यन्त निर्मल और शुद्ध है, यह देह में रहते हुए भी देह से अत्यन्त भिन्न है। परमार्थ दृष्टि से यही परमात्मा है। 'ओं नमः' इस पद द्वारा व्यक्त होने वाले भाव-नमस्कारस्वरूप जो अनुभव में आता है वही सिद्धस्वरूप निज आत्मा है। जो बाह्य में अंग पूर्वों के ज्ञाता हैं और अन्तरंग में शुद्ध रत्नत्रयरूप भावना से युक्त हैं ऐसे अपने शुद्ध स्वरूप का अनुभव करने वाले ही उपाध्याय परमेष्ठी हैं।

परमागम की महत्ता (४७-५८)

जिस आगम के अक्षरों और पदों द्वारा निश्चय रत्नत्रय स्वसमय और शुद्ध तत्व की सिद्धि होती है ऐसे अंग पूर्व रूप श्रुत को पूर्ण श्रुतज्ञान जानता है। वह श्रुत शाश्वत है, उसका कभी लोप नहीं होता। अपने ज्ञान परिणाम द्वारा ज्ञानस्वरूप होकर शाश्वत पद प्राप्त करना इसके स्वाध्याय का फल है। द्रव्यश्रुत सुनकर या पढ़कर आत्मा परमात्मा के समान है ऐसा जानना ज्ञान का मुख्य प्रयोजन है। उसमें आठ अंग, पांच परमेष्ठी और मति आदि पाँच सम्यग्ज्ञानों का निरूपण है। उसी के अनुसार आत्मतत्व अनुभवगम्य होने पर सर्वज्ञ पद की प्राप्ति होती है। "ओं ह्रीं श्रीं" ये तीन बीजाक्षार हैं जिनमें निहित शुद्ध तत्व का ध्यानारूढ़ होने पर सम्यक् प्रकाश होता है। आगम के निर्दोष शब्दों और पदों के ज्ञान से निर्मल ज्ञान प्रकाशित होता है। निश्चय रत्नत्रय ही मोक्षमार्ग है। यह आगम का उपदेश है। जिसमें रत्नत्रय सिद्ध पद आदि का कथन है वही आगम है। जो भावापेक्षया अनन्त नय गर्भित है वही जिनवाणी है। लोक का सत्तास्वरूप ऐसा कौन पदार्थ है जिसका उसमें वर्णन नहीं है अर्थात् उसमें छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय आदि सबका वर्णन है। वह वाणी ग्यारह अंग और चौदह पूर्वों में संकलित की गई है। उसका आलम्बन लेकर बुद्धिशाली विवेकी पुरुष अपने नित्य शुद्धात्मा की भावना करते हैं।

चार आराधनायें और उनका फल (५६-८६)

जो द्रव्य द्रष्टि से अत्यन्त शुद्ध है, सर्वज्ञस्वरूप है ऐसे शुद्ध आत्मा की अनुभूति ही निश्चय सम्यग्दर्शन है। अंग पूर्व के ज्ञाता मुनिजन इस निश्चय सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र के धारी होते हैं। यह सम्यग्दर्शन धर्म का मूल है। इसके होने पर ही अन्य सब स्वभाव धर्मों की प्राप्ति होती है। आत्मा और परमात्मा का अस्तित्व है। आत्मा परमात्मा के समान ध्रुव है। परमात्मा वह है जिसने अज्ञानस्वरूप रागादि मलों के साथ चार घातिया कर्मों का अभाव कर दिया है, जो १८ दोषों से रहित है, ऐसी अपूर्व प्रज्ञा का उदय निश्चय सम्यग्दर्शन के होने पर ही होता है। प्रत्याख्यान प्रवाद पूर्व के अनुसार प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रत्याख्यान दो प्रकार का है। ज्ञानस्वरूप होना ही प्रत्याख्यान है। ऐसा जीव नियम से द्रव्य भाव उभय स्वरूप कर्मों की क्षपणा करता है। कल्याण प्रवाद पूर्व के अनुसार अपना शाश्वत पद ही कल्याणस्वरूप है। त्रिलोक बिन्दु सार पूर्व के अनुसार निश्चयनय से परमात्मा स्वरूप अपना आत्मा ही उपादेय है। आगम के जितने भी पद हैं उन सबके कथन का एक मात्र यही सार है कि यह मेरा आत्मा निश्चय से निर्मल सिद्धसम शुद्ध है। जो मिथ्यात्व आदि तीन शल्यों से मुक्त है वही शुद्ध ध्यान का अधिकारी है। सम्यक्त्व के साथ हुआ श्रुतज्ञान अज्ञान को दूर करने में समर्थ है। आत्मानुभूति रूप शुद्ध सम्यग्दर्शन है। अपने शुद्ध स्वरूप का स्वसंवेदन शुद्ध ज्ञान है। मोह क्षोभ से रहित अपने स्वरूप में रमणता शुद्ध चारित्र है और अपने शुद्ध स्वरूप में तपना शुद्ध तप है। ये चार आराधनायें हैं। इनके होने पर आत्मा परमात्म पद का अधिकारी होता है, क्योंकि स्वरूप की दृष्टि से आत्मा और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। कारण शुद्ध हो अर्थात् अपने ज्ञायक स्वरूप आत्मा के सन्मुख होने रूप पुरुषार्थ किया जाय तो नियम से अपने ज्ञायक स्वरूप आत्मा की प्राप्ति होती है। उक्त प्रकार की

चारों आराधनायें कारण हैं और ध्रुवस्वरूप परमात्मा पद की प्राप्ति कार्य है। ज्ञायकस्वरूप आत्मा ही उपादेय है, ऐसा निश्चय कर जो स्वभाव-सन्मुख होता है उसके राग द्वेष तथा तीन शल्य स्वयं विलय को प्राप्त हो जाते हैं। उसके दर्शनमोहनीय का उदय दृष्टिगोचर नहीं होता। इस प्रकार आत्मस्वरूप के भावपूर्वक जो साक्षात् मोक्षमार्ग पर आरूढ़ होता है वही आत्मा परमात्मा बनता है तथा इसके विपरीत वह दुर्गति का पात्र होता है।

सम्यग्ज्ञान की महिमा (८७–९४)

स्वानुभूतिसम्पन्न भेदज्ञानी जीव के मतिज्ञानादि सम्यग्ज्ञान है, क्योंकि भेदज्ञान के बिना व्रत, तप आदि अनेक प्रकार की क्रियायें कष्टकर ही होती हैं। छद्मस्थ जीव के ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग पूर्वक ही होता है। जिसके निश्चय स्वरूप चार आराधनायें पाई जाती हैं वह नियम से केवलज्ञान–विभूति से विभूषित होता है। जो अनेक शास्त्रों का ज्ञाता है, अनेक प्रकार व्रत और तप करता है, भेदज्ञान के बिना वे सब वृथा हैं।

सम्यक् चारित्र (९५–१०८)

आत्मज्ञानपूर्वक स्वरूपरमणता ही सम्यक् चारित्र है। इसके सिवाय विषयों में रमना लोकरंजन मात्र है। विषय कषायों से विमुख होने पर ही सम्यक् चारित्र की प्राप्ति होती है। ऐसा जीव बाह्य विषयों में होने वाली भोगोपभोगरूप परिणति से नियम से छुटकारा पा लेता है। शुद्ध और अशुद्ध के भेद से उपभोग दो प्रकार का है। शुद्ध उपभोग मोक्षमार्गस्वरूप है और अशुद्ध उपभोग निगोदादि दुर्गतिस्वरूप है या दुर्गति का कारण है।

प्रत्यक्ष-परोक्ष ज्ञान (१०५–१०९)

प्रत्यक्ष और परोक्ष के भेद से प्रमाण दो प्रकार का है। जो परोक्ष ज्ञान के आलम्बन से आत्मा का चिन्तवन करता है उसे ही साक्षात् प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति होती है, ऐसा जिनेन्द्रदेव का उपदेश है। जो मिथ्यादृष्टि जीव है वह पांच इन्द्रिय और मन के विषय में लीन होने के कारण शुद्ध स्वभाव को नहीं जानता। वह निर्गुण है। उसे ज्ञाता-गुण का बोध कैसे हो सकता है। अर्थात् नहीं हो सकता।

सम्यक् आगम (११०–११५)

जिसमें राग द्वेष को बढ़ाने वाली चर्चा है वह मिथ्या आगम है। उसके द्वारा सम्यक् उपदेश और मिथ्या उपदेश में अन्तर नहीं किया जा सकता। वीतराग सर्वज्ञदेव की वाणी ही सम्यक् आगम है। उसके द्वारा ही अपने आत्मस्वरूप की सिद्धि होती है। अन्य सब मिथ्या आगम है। जिसमें अज्ञानपूर्वक कीजाने वाली व्रत क्रिया का उपदेश है वह मिथ्या आगम है। जो सम्यग्दर्शन आदि की प्राप्ति में बाह्य निमित्त है वह सम्यक् आगम है, अन्य सब मिथ्या आगम है।

सम्यक्त्व-बाधक ७ प्रकृतियाँ (११६-१२२)

[illegible] का [illegible] होने से [illegible] है। [illegible] प्रकृति मिथ्यात्व की [illegible] सहित है। उसके उदय काल में [illegible] आदि [illegible] की [illegible] सकते। [illegible], लोह, [illegible], [illegible], मद, गौरव [illegible] विषयों के प्रति राग रूप परिणाम मिथ्यात्व [illegible] गया है। वेदना प्रकृति का [illegible] बुद्धि में साधक नहीं हो सकता। वेदक सम्यक्त्व के काल में विकथाओं से रहित धर्मानुराग अवश्य होता है, संसार की स्थिति भी कम हो जाती है, पर ऐसा जीव कर्मों की क्षपणा करने में समर्थ नहीं होता। जो सम्यग्दृष्टि अनन्तानुबन्धी चारों कषायों से मुक्त हो जाता है उसके उनके अभाव में जो स्वरूपाचरण चारित्र होता है वह मोक्ष का कारण है।

अनन्तानुबन्धी चार कषाय (१२३–१४६)

लोभ आत्मा का विभाव भाव है। पुण्य का लोभ अनन्तानुबन्धी लोभ है। इसके रहते हुए शास्त्र का अभ्यास आदि सब क्रियाये मिथ्या हैं। वह अनेक अनर्थों की जड़ है। श्रुत के जानने का लोभ, चक्रवर्ती आदि पद प्राप्ति का लोभ, शुद्ध सम्यग्दृष्टि के नही होता। जो लोभ अर्थात् रागभाव शुद्ध धर्म की प्राप्ति का होता है वह मोक्षगामी जीवों के ही होता है।

हिंसा, असत्य तथा आर्त्तरौद्र परिणामों के साथ जो क्रूरभाव होता है वह अनन्तानुबन्धी क्रोध है। इससे स्थावर और विकलत्रयों में यह जीव पैदा होता है। वह नाना प्रकार के अनर्थों की जड़ है। शुद्ध सम्यग्दृष्टि और साधु उससे मुक्त रहते हैं।

यह जीव अशाश्वत पदार्थों का मान करता है, उनके लिये असत्य प्रलाप करता है। ज्ञानी पुरुषों ने उसे धो डाला है।

माया छल कपट का दूसरा नाम है। जो अपना नही है उसके लिये यह जीव मायाचारी करता है, माया मिथ्याज्ञान के समान है, मिथ्याराग के समान है, माया दुर्गति का कारण है। शुभ [illegible] नहीं होती। कूट कर्म, कूट दृष्टि और कूट भावना ये सब माया के लक्षण हैं। योगी उसका त्याग कर देते हैं।

अविरत सम्यग्दृष्टि (१५०–१७२)

योगी पुरुष तीन प्रकार के मिथ्यात्व और चार कषायों से मुक्त होते हैं। जो इनसे मुक्त हैं वे अविरत सम्यग्दृष्टि हैं। वे स्वभाव-सन्मुख होकर शुद्ध दृष्टि स्वरूप आचरण करते हैं। शुद्ध क्या है और अशुद्ध क्या है, इसे वे जानते हैं। शाश्वत पद क्या है, मोक्षमार्ग क्या है, आत्मा और परमात्मा का स्वरूप क्या है, इसे भी वे अच्छी तरह से जानते हैं। मेरा आत्मा द्रव्य दृष्टि से निर्विकार, निरंजन, नित्य और ज्ञानस्वरूप है, यह उनकी दृष्टि में भले प्रकार भासने लगता है। देव, गुरु और शास्त्र आदि का जैसा स्वरूप जिनेन्द्र देव ने कहा है वैसी ही उनकी अनुभवस्वरूप श्रद्धा होती है। वे मिथ्या देव, गुरु और धर्म की श्रद्धा से सदा मुक्त होते हैं। उनके

तीन शल्यें नहीं होतीं । कुदेव, कुगुरु और अधर्म ये तीनों संसार को बढ़ाने वाले अशुद्ध पद हैं। सम्यग्दृष्टि जीव उनकी भावना से सदा मुक्त रहता है । जो राग, द्वेष, विकथा, सात व्यसन प्रबल संसार के कारण हैं, उनसे भी सम्यग्दृष्टि जीव मुक्त रहता है । कर्म प्रकृतियों के जितने उदय हैं और उनसे होने वाले जितने विकल्प हैं वे पुण्य भाव और पाप भाव हैं । वे सब स्वभावानुभूति से परे हैं । सम्यग्दृष्टि जीव उनके स्वामित्व से मुक्त होता है । तात्पर्य है कि पर के निमित्त से होने वाले जितने परिणाम हैं, जितने पर भाव हैं, वे सब आत्मानुभूति से भिन्न हैं । सम्यग्दृष्टि विवेक बुद्धि सम्पन्न होता है इसलिए उसके अज्ञानपूर्वक किये गये व्रत, तप और श्रुत का अभ्यास नहीं पाये जाते । वह मात्र उपादेय गुण से युक्त होता है । सम्यग्दृष्टि शुद्ध धर्म, नौ पदार्थ, छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय, व्रत, संयम, ग्यारह प्रतिमा आदि का ही उपदेश करता है । ऐसा करते हुए वह शाश्वत तत्व को कभी भी दृष्टि-ओझल नहीं होने देता ।

तीन प्रकार का आत्मा (१७३–१७५)

आत्मा तीन प्रकार का है–बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा । जो शरीरादि में एकत्व-बुद्धि करता है वह बहिरात्मा है । जो अपने शुद्ध स्वरूप को अनुभवता है वह अन्तरात्मा है और जो परमपद को प्राप्त है वह परमात्मा है । सम्यग्दृष्टि जीव के भावों में तीन प्रकार का मिथ्यात्व, तीन प्रकार का निदान, तीन प्रकार शल्य, विषय कषाय और रागद्वेष दृष्टिगोचर नहीं होते । दर्शन ज्ञानमय शुद्ध धर्म का उपदेश ही उसे सारभूत प्रतीत होता है ।

पच्चीस दोष रहित सम्यग्दर्शन (१७६–२१३)

मिथ्या, मोह और तीन मूढ़ता आदि २५ दोषों से रहित सम्यग्दर्शन ही शुद्ध सम्यग्दर्शन है । जो लोकमूढ़ता के पक्ष को लिये हुए अधर्म को धर्म मानता है वह जिनद्रोही कुगतिका पात्र है । अज्ञान और तीन शल्य युक्त राग को बढ़ाने वाले कुदेव, कुगुरु, कुधर्म को मान्यता लोकमूढ़ता है । अदेव को देव मानना देवमूढ़ता है । पाखण्डी गुरुओं की मूढ़ता ही गुरुमूढ़ता है । कुगुरु, कुदेव और कुशास्त्र तथा इन तीनों के उपासक, ये छह अनायतन हैं । लोक में इन कुदेवादि की स्थापना अज्ञानियों का कार्य है । इनकी आराधना करने वाले दुखों से सन्तप्त होकर विकलेन्द्रिय और स्थावरकाय आदि में चिरकाल तक परिभ्रमण करते हैं । शंका कांक्षा आदि आठ दोष हैं । इनकी उपासना संसार रूपी भवन के बीजस्वरूप है । जाति मद, कुल मद आदि आठ मद हैं। जो जीव इनके अधीन हैं वे नियम से नरकगामी होते हैं । शुद्ध सम्यग्दृष्टि जीव इन पच्चीस दोषों से रहित होता है ।

सम्यग्दर्शन का फल और ८ गुण (२१४–२३६)

आत्मानुभूति स्वरूप शुद्ध सम्यग्दर्शन का धारी जीव अति शीघ्र निर्वाण पद का भागी होता है । इसके संवेग, निर्वेद, निन्दा, गर्हा, प्रशम, भक्ति, वात्सल्य और अनुकम्पा ये आठ गुण हैं । इन सहित आत्मानुभूति होने पर ही निर्मल सम्यग्दर्शन का उदय होता है । धर्म के प्रति

उत्साह का होना संवेग है। व्यवहार और निश्चय के भेद से धर्म दो प्रकार का है। इसे संवेगगुण युक्त सम्यग्दृष्टि अच्छी तरह से जानता है। पर से भिन्न आत्मा को जानना देखना निर्वेद है। शुद्धात्मा, परमात्मा और निर्वाण सब निर्वेदस्वरूप है। कुज्ञान, तीन शल्य, चार कषाय, मिथ्यात्व, हिंसा आदि अशुभ भावों के प्रति अरुचि निन्दा और गर्हा है। सम्यग्दृष्टि का संसार, शरीर और भोगों से विरक्त होना उपशम या प्रशम भाव है। बाह्याभ्यन्तर स्वरूप चार प्रकार की आराधना में उत्साहपूर्वक विनय का होना भक्ति है। रत्नत्रय के प्रति प्रीतिविशेष का होना वात्सल्य है। सब जीवों के प्रति प्रीतिविशेष का होना ही वात्सल्य है। सब जीवों के प्रति करुणाभाव का होना तथा दुखी आत्मरूप के प्रति विशेष अभिरुचि होना अनुकम्पा है। सम्यग्दृष्टि नियम से इन गुणों से सम्पन्न होता है।

आठ मूल गुण (२४०–२४७)

पांच उदम्बर फल और तीन मकारों का सेवन नहीं करना आठ मूल गुण हैं। सम्यग्दृष्टि शुद्ध भावों से इनका सम्यक् प्रकार से पालन करते हैं। उसमें भी वे एकेन्द्रिय जीवों की रक्षा के प्रति भी सदा सावधान रहते हैं।

चार दान (२६५-३००)

इसके आगे (२४८ से २६४) पुनः रत्नत्रय की महिमा को बतलाकर चार दानों का वर्णन करते हुए बतलाया है कि ज्ञान, आहार, भेषज और अभय के भेद से दान चार प्रकार का है। दान तीन प्रकार के पात्रों को दिया जाता है। जो जिन देव के समान बाह्य और अभ्यन्तर जिन–लिंग के धारी हैं वे उत्तम पात्र हैं। व्रती श्रावक मध्यम पात्र हैं। वे यथायोग्य ११ प्रतिमा धारी होते हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि जघन्य पात्र हैं। इन्हें शुद्ध भाव से उक्त चार प्रकार का दान दिया जाता है। आगे चार दानों का स्वरूप बतलाकर इस प्रकरण को पूरा किया गया है। इसी प्रसंग से जल–गालन पर और रात्रिभोजन त्याग पर विशेष बल देते हुए बतलाया गया है कि बाह्य क्रिया के साथ आंतरिक शुद्धि भी होनी चाहिए। प्रत्येक श्रावक को दो घटिका दिन चढ़ने के बाद, सायंकाल दो घटिका दिन रह जाय इसके पहले मध्यकाल में ही भोजन–क्रिया सम्पन्न कर लेनी चाहिए। इसी प्रसंग में उपाध्याय कैसा उपदेश करते हैं, उनका वह उपदेश जिनेन्द्र देव की दिव्य ध्वनि के अनुसार रचित जिनागम का अनुसरण करते हुए ही होता है, इस तथ्य का निर्देश किया गया है।

ग्यारह प्रतिमा (३०१–३३७)

आगे ग्यारह प्रतिमाओं का नाम–निर्देश कर प्रतिमा शब्द का अर्थ स्पष्ट किया गया है। यहाँ पर स्वामी जी ने ग्यारह प्रतिमाओं के नाम–निर्देश के प्रसंग से गोम्मटसार जीवकाण्ड की 'दंसण-वय सामाइय' इस गाथा को ही अपने ग्रन्थ का अंग बनाकर उसका निर्देश किया है। जो संसार के दुःख का क्षय करने वाली हों और जो शुद्ध आत्मा को दिखलाने वाली हों उन्हें प्रतिमा कहते हैं। ये ग्यारह प्रतिमाएं बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से प्रत्येक दो–दो प्रकार की हैं। जिनके

इसी रीति के अनुसार ग्रीष्म में क्रम से प्रथमादि प्रतिमाओं के योग्य आचरण हुए और पीछे आत्मस्वरूप की भावना ही उनकी है प्रथमादि प्रतिमाओं का सद्भाव होता है। स्वामी जी ने इन ग्यारह प्रतिमाओं के अभ्यन्तर स्वरूप को विशदतापूर्वक पद्धति से स्पष्ट किया है। साथ ही वे उन प्रतिमाओं के बाह्य आचार को भी यथासम्भव स्पष्ट करते गये हैं। उदाहरणार्थ-सचित्त त्याग प्रतिमा के स्वरूप पर प्रकाश डालते हुए बतलाया है:—

मिथ्या मय अन्नाने रागादि दोष विषयबहुपूनं।
हरितं सचित्त दव्वं विवर्ज्जति शुद्ध भाव संयुक्तं ॥ १-२११

जिसने अन्तरंग में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और रागादि दोषों से युक्त विषयों की वांछा छोड़ दी है और शुद्ध भावों से संयुक्त होकर बाह्य में जिसने हरित सचित्त द्रव्य का त्याग कर दिया है वह सचित्त त्याग प्रतिमा धारी श्रावक है ॥२११॥

छठी प्रतिमा का नाम रात्रिभोजन-त्याग है। यहां स्वामी जी ने उसका नाम अनुराग भक्ति रखकर उसका यह अर्थ किया है कि जो भक्ति के भार से युक्त होकर आत्मा के शुद्ध स्वरूप में विशेष अनुराग करने वाला होता है, वह अनुरागभक्ति प्रतिमाधारी है।

पांच अणुव्रत, दस धर्म आदि (३३८—४६१)

पाँच अणुव्रतों के सामान्य स्वरूप का निर्देश करते हुए बतलाया है कि शुद्ध सम्यग्दर्शन के साथ हिंसा का त्याग अहिंसा है, अनृत के त्याग पूर्वक कृतस्वभाव का नाम सत्य है, बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण न कर दी हुई वस्तु को ही ग्रहण करना अस्तेय है, अब्रह्म के त्यागपूर्वक ब्रह्म स्वरूप जो शुद्ध आत्मा है उसमें रमना ब्रह्मचर्य है तथा पुद्गल का प्रमाण कर अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा की भावना करना परिग्रहपरिमाण व्रत है।

इस प्रकार सामान्य रूप से पांच अणुव्रतों का स्वरूप निर्देश कर अनन्तर अहिंसा आदि प्रत्येक अणुव्रत के आध्यात्मिक स्वरूप पर गहराई से प्रकाश डाला गया है।

दस धर्मों के स्वरूप का निर्देश करते हुए उत्तम पद का अर्थ ऊर्ध्वस्वभाव किया है। यहाँ रागादि विकारों के अभावस्वरूप जो आत्मस्वभाव की प्राप्ति होती है उसी का नाम ऊर्ध्वस्वभाव है। ये क्षमादि दस धर्म आत्मस्वभाव की प्राप्ति स्वरूप होने से आत्मा के स्वभाव धर्म हैं। ये सभी ज्ञानस्वरूप होने से आत्मा ही हैं। इस प्रसंग से स्वामी जी ने जिस भावप्रवण भाषा का उपयोग किया है वह हृदय को स्पर्श करने वाली है। उदाहरणार्थ-आकिंचन्य धर्म का स्वरूपनिर्देश करते हुये लिखा है–'आकिंचन धम्मधुरावरधानं' धर्म की धुरा को उत्तम प्रकार से धरना उत्तम आकिंचन्य है। स्वामी जी कहते हैं–जो आत्मगवेषी हैं वे परमार्थ को जानकर आत्मपरिणामों को रागादि विकार रहित करने के अभिप्राय से उक्त दस प्रकार के धर्मों को धारण करते हैं।

अहिंसा महाव्रत के स्वरूप का निर्देश करते हुए बतलाया है कि जिसका आत्मा आत्मस्वभाव में स्थित है, परमात्मा के ध्यान में लीन है और परम पद जिसका ध्येय है उसी के अहिंसा महाव्रत

होता है। यह अहिंसा महाव्रत रूपातीत विज्ञानघन आत्मस्वरूपों में रमण करने वाले जिनलिंगी साधुओं के होता है। वे साधु मूलगुण और उत्तरगुणों का सम्यक् प्रकार से पालन करते हैं। परमागम में जो तेरह प्रकार का चारित्र बतलाया है वह उन्हीं के होता है। वे जिनलिंगी साधु बाह्य में अण्डज, बुण्डज, बंकज, चर्मज और रोमज इन पांच प्रकार के वस्त्रों का परिधान न कर निर्ग्रन्थ तो होते ही हैं, साथ ही आत्मा के संकल्प विकल्प रूप जो चेलस्वभाव अशुद्ध परिणाम होते हैं उनसे भी रहित होते हैं, क्योंकि बाह्य में पांच प्रकार के वस्त्रों के त्यागपूर्वक चेलस्वभाव से रहित होना ही वास्तव में साधु का जिनरूप है।

साधु दिगम्बर होते हैं, इसका भी स्वामीजी ने बड़ा भावपूर्ण रोचक विवेचन किया है। दिशायें दस हैं। उनमें पहली पूर्व दिशा है। स्वामी जी कहते हैं–पूर्व का अर्थ प्रथम या मुख्य है। संसारी आत्मा का मुख्य कर्तव्य आत्मज्ञान है, इसलिये वही पूर्व है, क्योंकि उसके द्वारा ही परमात्मपद की प्राप्ति होती है। अनन्त चतुष्टय भी पूर्व है। उन सब में रागादि दोष रहित निर्मल ज्ञान ही पूर्व दिशा है। इस प्रकार आत्मस्वभाव स्वरूप दशों दिशायें जिनका परिधान हैं वे दिगम्बर साधु हैं। वे बाह्य और आभ्यन्तर ग्रन्थ से रहित होते हैं। सिंहासन, घर और क्षेत्र आदि ये अशुभ परिणामों के सूचक होने से इन्हें अशुभ जानो। वे इनसे भी रहित होते हैं। इसी प्रकार उनके बादलों के समान विनाशीक जड़ धन-धान्य आदि परिग्रह भी नहीं होते। परमागम में जो राग, द्वेष आदि आभ्यन्तर परिग्रह बतलाये हैं, ज्ञानस्वभाव की आराधना द्वारा व उनसे भी मुक्त होते हैं। अर्थात् उनमें उनकी निजत्व बुद्धि नहीं रहती। एक मात्र स्वभाव की आराधना ही उनका मुख्य प्रयोजन रहता है।

निर्ग्रन्थ योगियों का स्वरूप (४७०–४७४)

जो जिनेन्द्रदेव के वचनों को ग्रहण करते हैं, जो स्वभाव भाव से संयुक्त होकर आत्मा का ग्रहण करते हैं, जो रत्नत्रयधारी होते हैं, आत्मस्वभाव को अनुभवने वाले वे ही योगी हैं। जो बाह्य–आभ्यन्तर या निश्चय व्यवहार स्वरूप सम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र को ग्रहण, धारण करते हैं, जो ज्ञानस्वभाव शुद्ध आत्मा को अनुभवते हैं वे ही योगी हैं। वे ही व्रत, संयम का भले प्रकार पालन करते हैं, वे ही रत्नत्रय रूप तीर्थ के कर्ता हैं। वे ही आत्मस्वरूप को देखने जानने वाले हैं। वे यह भी जानते हैं कि मेरा आत्मा केवलज्ञानादि स्वभावमय है।

बारह व्रत (४७५-५००-५४८)

स्वभाव की दृष्टि से देखने पर आत्मा ज्ञानघन है। ऐसे ज्ञानस्वरूप आत्मा का अनुभव भेदज्ञान के द्वारा होता है। ऐसे निर्णयपूर्वक रत्नत्रयरूप स्वभाव धर्म की प्राप्ति ही पांच महाव्रतों का धरना है। साधु के ये पांच महाव्रत नियम से होते हैं। उनमें प्रथम अहिंसा महाव्रत है। अपने आपको आत्मस्वरूप जानकर तथा स्वयं को परमात्मा के ध्यान में लीन कर परमपद का अनुभव करना ही अहिंसा महाव्रत है। आत्मा के अनंत-असत्य स्वरूप से विमुख हो अर्थात् रागादि परभावरहित यथार्थ स्वरूप का अनुभवना ही सत्य महाव्रत है। चोरी के भाव से रहित होकर

जिनेन्द्र देव के कथनानुसार जिनवचन जिनस्वरूप है ऐसा समझकर ज्ञानस्वभाव होकर रहना ही अचौर्य महाव्रत है।

आत्मा ब्रह्मस्वरूप है, वह अब्रह्म सम्बन्धी सकल दोषों से रहित है। आत्मा परमानन्द स्वरूप है। इस प्रकार की अनुभूति ही ब्रह्मचर्य महाव्रत है। पर पदार्थ पुद्गल के समान हेय है, तथा आत्मा पुद्गल के स्वभाव वाले समस्त दोषों से रहित है। इस प्रकार पुद्गल के निमित्त से होने वाले समस्त दोषों से रहित परमात्मस्वरूप आत्मा का अनुभवना ही परिग्रहत्याग महाव्रत है। इस प्रकार जो निश्चय पाँच महाव्रतों को धारण कर अपने आत्मा द्वारा अपने आत्मा में अपने आत्म-स्वरूप का अनुभव करता है वही अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान को प्राप्त करता है।

दिगम्बररूप परिणाम के साथ शुद्ध निज स्वभाव को ज्ञानस्वरूप अनुभवना ही दिग्व्रत है। दर्शन ज्ञानस्वरूप अपना शुद्धस्वरूप ही आत्मा का देश है। इस रूप होकर परिणमना ही देशव्रत महाव्रत है। अज्ञान ही अनर्थ है। उससे रहित परमात्मस्वरूप ज्ञानस्वभाव आत्मा में रहना अनर्थ दण्डत्याग महाव्रत है। जो मिथ्याभाव से विरत हैं, जो संसार की परिपाटी को बढ़ाने वाले व्यापार से विरत हैं, जो अज्ञान भाव से विरत हैं, साथ ही जो शुद्ध चैतन्य भाव में सुरत हैं, वे अनर्थ दण्ड त्याग महाव्रत के धारी हैं।

शिक्षाव्रत चार हैं। ज्ञानस्वरूप चेतनभाव में सुरत होने रूप शिक्षा-दीक्षा ही शिक्षा महाव्रत है। पहला भोग प्रतिमा शिक्षाव्रत है। अनृत आदि दोष सहित मिथ्या भोग है। वह संसार मय है, अतः रागादि दोष रहित आत्मस्वभाव का अनुभवना ही भोग प्रतिमा शिक्षाव्रत है। वाह्य उपभोग संसार-परिपाटी का ही साधन है। वह मिथ्यात्व, राग, कुज्ञान, विषयचिन्तन आदि दोषों से युक्त है। जिसका मन वाह्य विषयों में जाता है उसके नियम से अशुभ परिणाम पाया जाता है। जिसने अपने ज्ञानस्वभाव के अवलम्बन द्वारा सकल दोषों से विरति प्राप्त कर ली है उसके उस प्रकार की परिणति उपभोग प्रतिमा शिक्षाव्रत है। मिथ्यावान मद, राग, द्वेष रूप अज्ञान भाव से विरत होकर आत्मा के शुद्ध स्वभाव का अनुभवना अतिथि सुयं विभाग शिक्षाव्रत है। शरीर, इन्द्रिय और मन के व्यापार को कृश करना, रागद्वेष और मिथ्यात्वरूप अज्ञान भाव का त्यागना, समस्त विभाव भावों से हटकर अपने चेतनारूप शुद्ध स्वभाव की आराधना करना सल्लेखना शिक्षाव्रत है। आसन्न भव्य पुरुष इन बारह प्रकार के व्रतों को स्वीकार कर ज्ञानबल से निर्वाण को प्राप्त होते हैं।

यहां यह ज्ञातव्य है कि स्वामी जी ने श्रावकाचार में मात्र पांच अणुव्रतों का कथन किया है। अन्यत्र भाव का चारों में जिन सात शीलव्रतों का उपदेश दृष्टिगोचर होता है उन्हें स्वामी जी ने यहां पांच महाव्रतों के साथ लिया है। इससे यह ध्वनित होता है कि स्वामीजी को जिन-लिंगधारी साधुओं के भी ये सात शील महाव्रत होने चाहिये, यह इष्ट है। यद्यपि तीन गुप्ति, पांच समिति और दश धर्मों में इनका समावेश हो जाता है, फिर भी स्वामी जी ने मुनि धर्म में भी इनका समावेश क्यों किया यह ऊहापोह करने लायक विषय है।

बारह तप (५०१–५४८)

तप बारह प्रकार के हैं। बाह्य और आभ्यन्तर के भेद से वे दो प्रकार के हैं। अनशनादि छह बाह्य तप हैं और प्रायश्चित आदि छह आभ्यन्तर तप हैं। यहां अनसयन और अनशन इस प्रकार दो प्रकार से अनशन तप की व्याख्या की गई है। आत्मकार्य में नहीं सोना अनशयन है तथा भोजनपान विषयक रागादि दोषों से विरत रहना अनशन है। अपना आत्मस्वभाव विलय है। उसकी सम्यग्दर्शनादि सहित परमात्मस्वरूप भावना करना आमोदर्य तप है। संसार वास के कारण मिथ्यात्व आदि भावों से विरत होना वस्तु संख्या परिमाण तप है। संसार परिपाटी में रहते हुए, मिथ्यात्व, कुज्ञान और रागद्वेष का निरन्तर स्वाद लिया। ज्ञानस्वभाव के द्वारा उससे विरत होना रस परित्याग तप है। आसन और शय्या से विरत होने के साथ जीव और पुद्गल को भिन्न भिन्न जानकर अपने शुद्ध स्वभाव का अनुभवना विविक्त शय्यासन तप है। संसार में कार्यसंबंधी क्रिया से विरत होकर ज्ञानस्वभाव के शुद्ध स्वरूप का अनुभवना कायक्लेश तप है। यह छह प्रकार का बाह्य तप है। मन, वचन और काय इन तीन योगों को स्थिर करके आत्मा परमात्मा के समान है ऐसा समझकर अपने आत्मस्वभाव का अनुभवना आभ्यन्तर तप है। प्रस्तुत संयोग आदि को नहीं देखना और अप्रस्तुत आत्मस्वभाव को देखना अर्थात् उसकी भावना करना प्रायश्चित तप है। इसके होने पर इन्द्रियों के विषयों से विरक्ति होकर मनकी चपलता का रोध होता है। आत्मा विज्ञान स्वभाव है, अन्य मिथ्यात्वादि की भावना से विरत होकर उसकी भावना करना विनय तप है। व्रत संयम के साथ अपने ज्ञान स्वभाव की उपासना करना वैयावृत्य तप है। मिथ्यात्व, कुज्ञान आदि से विरत होकर अपने शुद्ध स्वभाव का बार बार चिन्तवन, मनन, ध्यान करना स्वाध्याय तप है। कार्य के प्रति ममता छोड़कर ऊर्ध्व स्वरूप शुद्ध स्वभाव को अनुभवना कायोत्सर्ग तप है। दोनों प्रकार के आस्रवों का रोध करने में समर्थ आत्मस्वभाव में एकाग्र तप है। दोनों प्रकार के आस्रवों का रोध करने में समर्थ आत्म स्वभाव में एकाग्र होना ध्यानतप है। यह बारह प्रकार का तप है। इनको आराधना से जीव निर्वाण पद को प्राप्त करता है।

दस प्रकार का सम्यग्दर्शन (५४९-५७३)

ज्ञान सम्यक्त्व, उपदेश सम्यक्त्व, अर्थ सम्यक्त्व, बीज सम्यक्त्व, संक्षेप सम्यक्त्व, सूत्र सम्यक्त्व, व्यवहार सम्यक्त्व, अवगाहन सम्यक्त्व, प्रवचन केवलि उक्त सम्यक्त्व और परम सम्यक्त्व ये दस भेद हैं। आत्मा रागादि सकल मलों से रहित ज्ञानस्वरूप है। ऐसी अनुभूति ज्ञान सम्यक्त्व है। जिनेन्द्रदेव का उपदेश ज्ञानस्वरूप है। ऐसी अनुभूति ज्ञानसम्यक्त्व है। जिनेन्द्रदेव का उपदेश ज्ञान स्वरूप शुद्ध आत्मा को बतलाने वाला है ऐसा निश्चय कर उस द्वारा शुद्ध आत्मस्वभाव का अनुभव करना उपदेश सम्यक्त्व है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप अर्थ है तथा मिथ्यात्व, राग द्वेष आदि अनर्थ है, ऐसा हृदयंगम कर स्वभाव की रुचि होना अर्थ सम्यक्त्व है। मोक्ष का बीज शुद्ध आत्मज्ञान है, तथा ज्ञान दर्शन से पूर्ण शुद्ध आत्मा है। व्यवहार और निश्चय के भेद से दो प्रकार का चारित्र और तप ये बीजस्वरूप आत्मज्ञान के निमित्त हैं। इनके साथ सच्चे देव, गुरु और धर्म की रुचि होना बीज सम्यक्त्व है। अन्य संसार के प्रयोजनों से निवृत्त होकर अपने शुद्ध आत्मा की अनुभूति

करना संक्षेप सम्यक्त्व है। अपने शुद्ध स्वभाव से बंध जाना सूत्र सम्यक्त्व है। जिन देव ने जो कहा वह सूत्र है अन्य सब उत्सूत्र है। ऐसा जानकर सूत्र के अनुसार आत्मरुचि होना सूत्र सम्यक्त्व है। यह उक्त कथन का तात्पर्य है। शंकादि दोष रहित होकर सच्चे देव, गुरु और धर्म की श्रद्धा करना व्यवहार सम्यक्त्व है। अंग पूर्वों के विस्तार को जानकर आत्मरुचि का होना अवगाह सम्यक्त्व है। तथा पिण्डस्थ, रूपस्थ, स्वरूप और रूपातीत के भेद से ध्यान चार प्रकार का है। इनके साथ धर्म्य और शुक्ल ध्यान का अवगाहन कर ज्ञान स्वभाव में स्थित होना अवगाह सम्यक्त्व है। केवलि का कथन शुद्ध तत्व को बतलाने वाला है ऐसे निश्चय पूर्वक जो आत्मरुचि होती है वह प्रवचन केवलि उक्त सम्यक्त्व है। परमात्मा के जो सम्यक्त्व होता है वह परम सम्यक्त्व है। जो इस प्रकार सम्यक्त्व को प्राप्त करता है वह निर्वाण पद का अधिकारी होता है।

बारह अविरति त्याग (५७५–५६८)

पांच इन्द्रियों के विषय जो राग द्वेष के हेतु हैं, उनका रोध करना, इन्द्रियों के नरपति स्वरूप मन के विषय का रोध करना और त्रस स्थावर जीवों की रक्षा करना, बारह अविरतित्याग है। यह जीव अपने ज्ञानस्वभाव में स्थित हो और इन्द्रियों तथा मन के विषयों में इष्टानिष्ट बुद्धि न करे तथा "सत्वेषु मैत्री" भावना के अनुसार सब जीवों में मैत्री भाव रखे तब जाकर इस बारह प्रकार की अविरति का त्याग होता है। स्वामी जी ने इन बारह प्रकार की अविरति त्याग का बड़ा ही सरस हृदयग्राही निरूपण किया है।

तेरह प्रकार का चारित्र और उसका फल (५६६–६५७)

पांच महाव्रत, पांच समिति और तीन गुप्ति, यह तेरह प्रकार का चारित्र है। पांच महाव्रतों का स्वरूप पहले बतला आये हैं। पुद्गल और पुद्गल आदि बाह्य पदार्थों के निमित्त से होने वाले रागादिभावों में मन का प्रवेश न होकर मन जनित विकल्पों से रहित आत्म भावना का होना मनोगुप्ति है। मौन पूर्वक जिन देव के उपदेशानुसार ज्ञानस्वरूप भावन वन में रमना वचन गुप्ति है। कृत और कारितरूप काम की चेष्टा से रहित होकर व्रत संयम पूर्वक आत्मध्यान करना काय गुप्ति है। समदर्शी होना निश्चय रत्नत्रयरूप सम्भाव को प्राप्त कर आत्म स्वभाव में रमना समिति है। सरल भाव के साथ रत्नत्रय स्वरूप आत्मा का अनुभवना ईर्यासमिति है। ओं, ह्रीं श्रीं ये तीन बीजाक्षर हैं। ओं पद में स्थित बिन्दु से सिद्ध परमात्मा का बोध होता है। ह्रीं पद से अरहन्त परमेष्ठी का बोध होता है और श्रीं पद से आत्मा के शुद्ध स्वभाव का बोध होता है, ऐसा जानकर सरल भाव से आत्मस्वभाव के सन्मुख होना ईर्यासमिति है। केवली जिन की भाषा को प्रमाण कर ज्ञानस्वभाव होना भाषा समिति है। जो आत्मकल्याणकारी सरल मोक्षमार्ग है उसकी ऐषणा रुचि होना ऐषणा समिति है। अपने स्वभाव को आदान-ग्रहण कर तीन प्रकार के कर्मों का निक्षेपण करना आदान-निक्षेपण समिति है। धर्म्य ध्यान और शुक्ल ध्यान में आत्मा को प्रतिष्ठित करना प्रतिष्ठापन समिति है।

यह अपने ज्ञानस्वभाव के द्वारा तेरह प्रकार चारित्र है। इसी का नाम संयम है। जो भव्य जीव सम्यक्त्वाचरण और चारित्राचरण रूप परिणमता है वह नियम से मोक्ष को प्राप्त करता है। मोक्ष पद में स्थित सिद्ध परमेष्ठी जन्म मरण से रहित हैं। उन्होंने अपने आत्मा द्वारा शुद्ध स्वरूप अपने आत्मा को प्राप्त कर लिया है। ऋजुमति और विपुलमति मनःपर्यय ज्ञान भी आत्मा के शुद्ध स्वभाव के लक्ष्य से प्राप्त होते हैं। केवलज्ञान परम शुद्ध है। इसके धारी केवली जिन अठारह दोषों से रहित, परम आनन्द रस का पान करने वाले होते हैं। क्षुधा, तृषा, भय आदि अठारह दोष हैं। वे तेरहवें गुणस्थान में स्थित हैं और योग सहित हैं, इसलिये अरहन्तों को सयोग केवली कहते हैं। वे आहार नीहार से रहित हैं। ज्ञानरूप रहना ही उनका आहार है। आठ गुण सहित, आठवीं पृथ्वी के ऊपरले भाग में स्थित तथा आत्मसिद्धि को प्राप्त सिद्ध परमेष्ठी हैं।

चौदह गुणस्थान (६५८–७०३)

मिथ्यात्व, सासादन आदि चौदह गुणस्थान हैं। सात तत्व, छह द्रव्य, पांच अस्तिकाय और नौ पदार्थों में एक मेरा शुद्धात्मा उपादेय है, अन्य सब हेय हैं। मेरा आत्मा टंकोत्कीर्ण स्वभाव वाला है। वह द्रव्यदृष्टि से परमात्मस्वरूप है, शुद्ध ज्ञानमयी है, ऐसा नय विभाग से निर्णय कर अपने आत्मस्वरूप का अनुभव करना उपादेय है। अज्ञान पूर्वक उग्र व्रत, तप और श्रुत का अभ्यास करते हुए भी मिथ्या रुचि का होना मिथ्यात्व गुणस्थान है। जो स्वपरभेद विज्ञानी संशय रूप संक्लेश विशेष के कारण न तो मिथ्यात्व भूमि को स्पर्श करता है और न सम्यग्दर्शन रूपी शिखर पर स्थित रहता है उसकी वह श्रद्धा सासादन गुणस्थान है। मिश्र श्रद्धा का नाम मिश्र गुणस्थान है। मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों के उदय से रहित बाह्य में देव गुरु धर्म को श्रद्धा का होना और अन्तरंग निश्चय सम्यग्दर्शन का होना अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान है। सम्यक्त्व पूर्वक एकदेश व्रतों का होना देशविरत गुणस्थान है। बारह प्रकार की अविरति के अभाव में बाह्याभ्यन्तर परिग्रह के त्यागपूर्वक तेरह प्रकार के चारित्र का पालन करना प्रमत्त विरत गुण–स्थान है। प्रमाद रहित होकर आत्मध्यान में तत्पर होना अप्रमत्तविरत गुणस्थान है। इसके दो भेद हैं—स्वस्थान अप्रमत्त और सातिशय अप्रमत्त। कर्मों के उपशम और क्षय के अनुकूल परिणामविशेष का होना सातिशय अप्रमत्त है। संसार में पहले कभी नहीं हुए ऐसे अपूर्व परिणामों का होना अपूर्वकरण गुणस्थान है। कर्मों के क्षय और उपशम के निमित्तभूत अनिवृत्ति रूप परिणामों का होना अनिवृत्तिकरण गुणस्थान है। कषायों के अत्यन्त सूक्ष्म होने के साथ सातिशय आत्मभावना का होना सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान है। चारित्र मोहनीय के उपशम पूर्वक शुद्ध आत्मपरिणतिका होना उपशान्तकषाय गुणस्थान है। यहाँ पर स्वामी जी ने समयसार की १२ वीं गाथा के "सुद्धो सुद्धादेसो" इस पद के साथ एक गाथा निबद्ध की है, जो इस प्रकार है—

सुद्धो सुद्धादेसो सुद्धो परमप्पलीन संजुत्तो।
षय उवसमसंजुत्तो ज्ञान सहावेन चरन्ति तवयरनं ॥६९७॥

शुद्ध आत्मा को कहनेवाला शुद्ध नय है। उसके द्वारा जो परमात्मस्वरूप अपने शुद्ध आत्मा में लीन है और अपने ज्ञानस्वभाव के द्वारा तप करता है वह कर्मों का क्षय या उपशम करने में समर्थ होता है।

इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि आत्मस्वरूप का अनुभव एक मात्र शुद्धनय से ही होता है।

अपने ज्ञानस्वभाव के अनुभव द्वारा चारित्रमोह के क्षयपूर्वक आत्मपरिणतिका होना क्षीणमोह गुणस्थान है। आहार-नीहार से रहित तथा केवलज्ञान सहित, योग सहित केवलज्ञानरूप अरहन्त अवस्था सयोगकेवली गुणस्थान है। तथा योग रहित और अनन्त चतुष्टय सहित अवस्था अयोगकेवली गुणस्थान है। इन चौदह गुणस्थानों से रहित परमानन्द स्वरूप सिद्ध अवस्था है।

१६ स्वर और ३३ व्यंजनों द्वारा गाथाओं का प्रारम्भ (७०४–७६३)

यहां सर्वप्रथम पंच परमेष्ठीगर्भित ओं तथा अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा को जानने की प्रेरणा कर आगे एक एक गाथा का प्रारम्भ अ आ आदि १६ स्वरों और ३३ व्यंजनों के द्वारा करके उन गाथाओं द्वारा आत्मा का स्वरूप, मोक्षमार्ग, संवरस्वरूप, निश्चय सम्यग्दर्शन, जिनलिंग की महिमा आदि का अध्यात्म–रस गर्भित निरूपण किया गया है। इतना अवश्य है कि स्वरों में 'लृ' के स्थान में 'लि' 'लॄ' के स्थान में 'ली' से, 'अं' के स्थान में 'अ' से और 'अः' के स्थान में 'अह्' से गाथा का प्रारंभ किया है। तथा व्यंजनों में 'ङ' 'ञ' और 'ण' के स्थान में 'न' से, 'ब' के स्थान में 'व' से, 'य' के स्थान में 'ज' से 'श' के स्थान में 'स' से, 'ष' और 'क्ष' के स्थान में 'ख' से गाथा का प्रारम्भ किया है। 'ञ' अक्षर को छोड़ दिया है।

विविध विषय (७६४–९०७)

आगे सात तत्व, नौ पदार्थों के नामोल्लेख पूर्वक छह द्रव्यों का संक्षेप में स्वरूप बतलाकर सात तत्व, नौ पदार्थ, अस्तित्व, वस्तुत्व आदि गुण, धर्म, अधर्म, पांच अस्तिकाय, काय रहित किन्तु अस्तिस्वरूप काल द्रव्य, चार आर्तध्यान, चार रौद्रध्यान, चार धर्म्यध्यान, चार शुक्ल ध्यान, पिण्डस्थ, पदस्थ आदि ध्यान, आज्ञा सम्यक्त्व आदि और पंचाचार में से किसी का लक्षणपरक और किसी का भावात्मक विवेचन कर ज्ञानसमुच्चय सार ग्रन्थ की रचना के प्रयोजन का सार बतलाते हुए लिखा है कि जिनेन्द्र देव ने जैसा कहा है उसके अनुसार जो आत्मा का शुद्ध ध्यान है वही ज्ञानसमुच्चय सार है। स्वपरभेद विज्ञान कहो या ज्ञानसमुच्चय सार कहो, इन दोनों का एक ही अर्थ है। जो इसके अनुसार अपने ज्ञानस्वरूप आत्मा में प्रतिष्ठित होता है वह संसार की परिपाटी की क्षपणा कर निर्वाण–पदको प्राप्त करता है।

यह प्रस्तुत ग्रन्थ का संक्षिप्त उपयोगी विषय-परिचय है।

३–ग्रन्थ–कर्त्ता

स्वामी जी का परिचयः—

श्री जिन तारणतरण के बनाये हुये १४ ग्रन्थ माने जाते हैं, यह उनमें से एक है। इस ग्रन्थ के अन्त में वे स्वयं लिखते हैं:—

(अ) **जिन उवएसं सारं, किंचित् उवएस कहिय सद्भावं ।**
सं जिन तारन रइयं, कम्मक्षय मुक्तिकारनं सुद्धं ॥१०६॥

श्री जिनेन्द्रदेव का जो साररूप उपदेश है उसके कुछ अंश को लेकर 'जिन तारन' नाम से प्रसिद्ध मैंने इस ग्रन्थ की रचना की है। भगवान का यह उपदेश कर्मक्षय के साथ मोक्षप्राप्ति का निमित्त है और पूर्वापर आदि समस्त दोषों से रहित है ॥१०६॥

(आ) आगे इसी ग्रन्थ की पुष्पिका में पूरा नाम जिन तारनतरन दिया है। यथा—इति ज्ञानसमुच्चय सार ग्रन्थ जिन तारण-तरन विरचित समुत्पन्निता।

(इ) प्रत्येक ग्रन्थ की अंतिम पुष्पिका के समान छद्मस्थवाणी के अंतिम अध्याय में भी स्वामीजी के पूरे नाम का इस प्रकार उल्लेख दृष्टिगोचर होता है।

'जिन तारण तरण शरीर छूटो'

इन सबको देखने से विदित होता है कि प्रकृत ग्रन्थ के रचयिता का पूरा नाम 'जिन तारण' न होकर 'जिन तारण-तरण' ही प्रचलित था। उनका 'जिन तारण' यह संक्षिप्त नाम है।

ठिकानेसार ग्रन्थ के देखने से विदित होता है कि आम जनता इनको 'स्वामी जी' इस नाम से विशेष रूप से सम्बोधित करती रही है।

मालूम पड़ता है कि उनका 'जिन तारण तरण' नाम जन्म-नाम न होकर ग्रन्थ-रचनाकाल में या ग्रन्थरचना के पूर्व ही ध्यान अध्ययन से ओत-प्रोत उनकी अध्यात्मवृत्त अवस्था को देखकर साधारण जनता के द्वारा रखा गया होना चाहिये।

यह भी सम्भव है कि अपनी रचनाओं में स्वामी जी ने जिन देव और जिन गुरु के लिये 'तारण-तरण' पद का बहुलता से प्रयोग किया है, इसलिये अपना गुरु मानकर उन्हें भी जनता द्वारा 'जिन तारण-तरण' नाम से सम्बोधित किया जाने लगा हो।

जो कुछ भी हो, इतना स्पष्ट है कि अपनी विपुल रचना के पूर्व ही वे 'जिन तारण तरण' इस नाम से जाने माने लगे होंगे। यही कारण है कि अपनी कई रचनाओं के अन्त में उन्होंने 'जिन तारण विरइयं' तथा मुक्ति श्री फूलना में 'मन हरषिय हो जिन तारण' इस रूप में अपने नाम का स्वयं उल्लेख किया है।

जन्मतिथि निर्णय—

हमारे सामने तीन ठिकानेसार उपलब्ध हैं। उन सब में भगवान् महावीर के काल से लेकर इस प्रकार विवरण मिलता है:—

'वीरनाथ की आयु वर्ष बहत्तर, काय हाथ सात एवं काल चौथो। पंचमो काल की आवंलि इकीस हजार वर्ष। कालि कौ नाम दुषमा। मनुष्य को काया हाथ साढ़े तीन। मनुष्य को आवंलि

वर्ष की बीसा सो, तामे घटि बढ़ । उन्नीस सौ पचहत्तरि वर्ष गये ते 'तार काल' कु है ।
(१) श्री तारण तरण अध्यात्मवाणी पृ० ६७, १०२, १०७ आदि । वही पृष्ठ ६६ ।

जहां तक मेरा अनुमान है कि ठिकानेसार के उक्त उल्लेख में 'तार काल' पद से उसके रचयिता को 'जिन तारण तरण काल' ही इष्ट है । वह मानते हैं कि वीर निर्वाण से १९७५ वर्ष गत होने पर स्वामी जी का जन्म हुआ । जैसा कि पट्टावलियों से ज्ञात होता है कि वीर जिनके निर्वाणलाभ के बाद ४७० वर्ष गत होने पर विक्रम सम्वत् प्रारम्भ हुआ । अत: १९७५ वर्ष में से ४७० वर्ष कम कर देने पर वि० सं० १५०५ में स्वामी जी का जन्म हुआ, यह निश्चित होता है । १९७५–४७०=१५०५ वि० सं० को जन्म ।

अब इस सम्वत् के किस माह की किस तिथि को स्वामी जी का जन्म हुआ यह देखना है । छद्मस्थवाणी में स्वामी जी के शरीर–त्याग के विषय में यह उल्लेख आता है—

"संवत पन्द्रह सौ बहत्तर वर्ष जेठ वदी छठ की रात्रि सातएं शनिवार दिन जिन तारण तरण शरीर छूटो ।"

इससे इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी जी ने जेठ वदी ७ शनिवार वि० सं० १५७२ को इहलीला समाप्त की ।

अब यह देखना है कि इस तिथि तक स्वामी जी का कितना काल वर्तमान पर्याय में व्यतीत हुआ । इसके लिये इसी छद्मस्थवाणी के प्रथम अध्याय पर[१] दृष्टिपात करने से विदित होता है कि स्वामी जी कुल ६६ वर्ष पांच माह पन्द्रह दिन तक वर्तमान पर्याय में रहे । इसलिये इस काल को शरीर–त्याग के काल में से घटा देने पर जन्मकाल अगहन सुदी ७ गुरुवार वि० सं० १५०५ आ जाता है । क्यों कि अगहन सुदी ७ से जेठ वदी ७ तक गणन्त करने पर कुल ५ माह १५ दिन होते हैं । तथा उक्त जन्मतिथि से शरीरत्याग की तिथि तक वर्षों की गणना करने पर ६६ वर्ष होते हैं ।

यद्यपि अगहन सुदी ७ से जेठ वदी ७ तक कुल ५ माह १६ दिन होते हैं । परन्तु स्वामी जी ने जेठ वदी ६ की रात्रि में ही शरीर त्याग कर दिया था, इसलिये छद्मस्थवाणी में जो ५ माह १५ दिन का उल्लेख है वह ठीक है ।

छद्मस्थवाणी का एक अन्य उल्लेख—

छद्मस्थवाणी में एक यह उल्लेख दृष्टिगोचर होता है—

सिद्ध ध्रुव उन्नीस सौ तेंतीस वर्ष दिन रयन से तीन उत्पन्न ।

इसमें प्रथम अंश 'सिद्ध ध्रुव है' द्वितीय अंश 'उन्नीस सौ तेंतीस वर्ष दिन रयन से' है और तीसरा अंश 'तीन उत्पन्न' है ।

१—श्री ता० त० अध्यात्मवाणी पृ० ४०१

स्वामी जी का जन्म वीर नि० सम्वत् से १९७५ वर्ष गत होने पर हुआ था, हम पहले ही बतला आये हैं। प्रकृत वचन में उन्नीस सौ तैंतीस वर्ष का उल्लेख है। इसलिये प्रश्न होता है कि किस सम्वत् से १९६३ वर्ष बाद ? विक्रम सम्वत् से तो हो नहीं सकता, क्योंकि विक्रम सम्वत् से १९३३ के कई शताब्दी पूर्व ही स्वामी जी का जन्म हो चुका था। अतः परिशेष न्याय से इस काल की गणना वीर निर्वाण संवत् से ही की जानी चाहिये। उक्त उल्लेख में प्रथम अंश 'सिद्ध ध्रुव' है। मालूम पड़ता है कि छद्मस्थवाणी में 'सिद्ध ध्रुव' पद द्वारा वीर जिनका निर्वाण ही अपेक्षित है। अतः पूरे उल्लेख का यह अर्थ हुआ कि वीर निर्वाण सम्वत् से १९३३ वर्ष गत होने पर तीन उत्पन्न हुए। १९७५ में से १९३३ कम करने पर ४२ लब्ध आते हैं। अतः इस उल्लेख में जिन तीन के उत्पन्न होने का निर्देश किया गया है वे तीन स्वामी जी के जन्म से ४२ वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए यह निश्चित होता है। पर वे तीन कौन ? यह प्रश्न फिर भी शेष रहता है।

यदि स्वामी जी के जन्म के समय माता-पिता की आयु लगभग ४२ वर्ष की थी, यह अर्थ लिया जाता है तो यह प्रश्न होता है कि वह तीसरा कौन व्यक्ति होगा जिसका स्वामी जी के जन्म से ४२ वर्ष पूर्व जन्म हुआ होगा (मामा) ? तीसरे व्यक्ति के रूप में स्वयं स्वामी जी को तो गिना नहीं जा सकता, क्योंकि स्वामी जी का जन्म तो वीर नि० संवत् १९३३ से ४२ वर्ष बाद हुआ था। अतः मालूम पड़ता है कि छद्मस्थवाणी के उक्त उल्लेख में किन्हीं महत्वपूर्ण अन्य तीन का उल्लेख किया गया होना चाहिये। इस विषय में अनुसंधान होना चाहिये। इससे अनेक ऐतिहासिक तथ्यों पर प्रकाश पड़ना सम्भव है।

स्वामी जी का जन्म अगहन सुदी ७ गुरुवार वि० सं० १५०५ को हुआ था। इसका निर्णय छद्मस्थवाणी से हो जाने पर भी उससे उनके माता-पिता का नाम क्या था ? जाति, कुल, गांव क्या था, किस नगरी में उन्होंने जन्म लिया था ? इत्यादि बातों पर कोई प्रकाश नहीं पड़ता। एक आध्यात्मिक पुरुष अपने वर्तमान जीवन की लौकिक घटनाओं आदि पर लिखता बैठे यह सम्भव भी नहीं है। अतः इन बातों के निर्णय के लिये 'निर्वाण हुण्डी' रचना ही एक मात्र सहारा है। इसकी भाषा मिली जुली है। उसमें स्वामी जी की माता का नाम 'वीर श्री' और पिता का नाम 'गढ़ा साहु' बतलाया है। उसमें यह भी बतलाया है कि वे जाति से गाहामूरी वासल्ल गोत्र परवार (पौरपट्ट) थे। जन्म नगरी का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वे पुष्पावती नगरी में जन्मे थे। इस विषय में स्व० ब्रह्मचारी शीतलप्रसाद जी को छोड़कर अन्य सभी का मत है कि कटनी के पास 'बिलहरी' ग्राम ही पुष्पावती है। पूर्व काल में पुरातत्व की दृष्टि से यह ऐतिहासिक स्थान रहा है, इसलिए पुष्पावती का नाम बदल कर उत्तर काल में बिलहरी हो गया हो, यह बहुत कुछ सम्भव है।

निर्वाण हुण्डी से इन बातों के सिवाय उनके शेष जीवन पर उल्लेखनीय प्रकाश नहीं पड़ता। हाँ, छद्मस्थवाणी (प्रथम अध्याय) में कुछ वचन ऐसे अवश्य ही लिपिबद्ध हुए हैं जिनसे उनके जीवन की खास खास घटनाओं पर प्रकाश पड़ना सम्भव है। इन वचनों का सम्बन्ध स्वामी जी के जीवन से होना चाहिए। यह इसलिये भी ठीक लगता है क्योंकि इन वचनों के बाद उनके सं० १९७२ में शरीर त्याग का उल्लेख किया गया है। वे समग्र वचन इस प्रकार हैं:—

सहजोदि मुक्तं मेष उत्पन्न ॥१६॥ मिथ्याविलि वर्ष ग्यारह ॥१७॥ समय मिथ्या विली वर्ष दस ॥१८॥ प्रकृति मिथ्या विली वर्ष नौं ॥१९॥ माया विली वर्ष सात ॥२०॥ मिथ्या विली वर्ष सात ॥२१॥ निदान विली वर्ष सात ॥२२॥ आज्ञा उत्पन्न वर्ष दो ॥२३॥ वेदक उत्पन्न वर्ष दो ॥२४॥ उपशम उत्पन्न वर्ष तीन ॥२५॥ क्षयायिक उत्पन्न वर्ष दो ।२६॥ एवं उत्पन्न वर्ष नौ ॥२७। उत्पन्न मेष उवसग्ग सहन वर्ष छह मास, पाँच दिन, पंच दस, पन्द्रह सौ बहत्तर गत तिलक ।

सहज ही जगन (बाल) रूपमें स्वामी जी का जन्म हुआ ॥१६॥ ११ वर्ष की उम्र में मिथ्यात्व (ग्रहीत मिथ्यात्व का) विलय हुआ ॥१७॥ उसके बाद १० वर्ष में समय (जीवादि पदार्थ या आत्मा विषयक) मिथ्यात्व का विलय हुआ ॥१८॥ उसके बाद नौ वर्ष में प्रकृति (आन्तरिक रुचि विषयक) मिथ्यात्व का विलय हुआ ॥१९॥उसके बाद २१ वर्ष में क्रम से माया, मिथ्यात्व और निदान इन तीन शल्यों का विलय हुआ ॥२०–२२॥ उससे बाद ग्रहीत व्रतों को उत्तरोत्तर जिनाज्ञा के अनुसार पालन करते हुए अपने परिणामों में मुनिपद के योग्य विशुद्धि उत्पन्न की ॥२३–२६॥ उसके बाद उपसर्गों को सहन करने के साथ छह वर्ष, पांच माह और पन्द्रह दिन तक 'उत्पन्न भेष' अर्थात् मुनिपद का पालन करते हुए वि० स० १५७२ में इहलीला समाप्त की ।

यह छद्‌मस्थवाणी के उक्त बचनों का आशय है । इस आधार पर स्वामी जी के समग्र जीवन को पाँच भागों में विभक्त किया जा सकता है.—

(१) बाल जीवन (२) शास्त्राभ्यास जीवन (३) स्वात्म चिन्तन–मनन जीवन (४) ब्रह्मचर्य सहित निरतिचार व्रती जीवन (५) मुनि जीवन ।

१–बाल जीवन—

बाल जीवन में स्वामी जी के ११ वर्ष व्यतीत हुए । इस काल में स्वामी जी ने लौकिक और प्रारम्भिक धार्मिक शिक्षा द्वारा एतद्विषयक मिथ्यात्व (अज्ञान) को दूर किया। हो सकता है कि वे ५ वर्ष की अवस्था में अपने पिता जी के साथ अपने मामा जी के यहां गये हों और गढ़ौला ग्राम में उनकी चदेरी पट्ट के अधीश भ० देवेन्द्रकीर्ति से भेंट[1] हुई हो । यह भी सम्भव है कि उस भेंट के समय भ० देवेन्द्रकीर्ति ने यह अभिमत प्रगट किया हो कि आपका यह बालक होनहार है । इसके शारीरिक चिन्ह और हस्तरेखाये ऐसी हैं जो स्पष्ट करती हैं कि यह बालक महान् तपस्वी होकर लाखो मानवों का कल्याण करेगा[2] ।

प्रसंग से यहां मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि भ० श्रुतकीर्ति भ० देवेन्द्रकीर्ति के प्रशिष्य और भ० त्रिभुवनकीर्ति के शिष्य थे । उन्होंने स्वयं इस तथ्य का उल्लेख वि० सं० १५५२ में स्वरचित हरिवंश पुराण की प्रशस्ति में किया है[3] । और भ० त्रिभुवनकीर्ति स्वामी जी के जन्म समय के बाद वि० सं० १५०५ से लेकर वि० सं० १५२२ के मध्य कभी चदेरी पट्ट के मंडलाचार्य बने, क्योंकि ललितपुर के बड़ा मन्दिर के वि० सं० १५२२ के एक प्रतिमालिख में उनका मंडलाचार्य

१-भट्टारक सम्प्रदाय ग्रन्थ में इन्हें सूरत पट्ट का लिखा है। २-विमलवाणी पृष्ठ १७१ ३-भट्टारक संम्प्रदाय लेखांक ५१३

रूप में उल्लेख है। इससे पूर्व का हमें ऐसा कोई प्रतिमालेख या प्रशस्ति नहीं मिली है जिसमें भ० त्रिभुवनकीर्ति का इस रूप में उल्लेख किया गया हो। अतएव स्वामी जी के बाल-जीवन के समय या शास्त्राभ्यास के समय श्रुतकीर्ति का मुनि या भट्टारक होकर विचरना सम्भव ही नहीं दिखाई देता। वि० सं० १५२२ के पूर्व जब भ० त्रिभुवनकीर्ति चन्देरी पट्ट पर बैठे होंगे, उसके बाद ही कभी श्रुतकीर्ति ने उनसे दीक्षा ली होगी। श्रुतकीर्ति स्वामी जी के शास्त्राभ्यास के काल में सहाध्यायी रहे हों और परस्पर मिल कर तत्वचर्चा करते रहे हों यह सम्भव है।

यहां इस बात का भी संकेत कर देना चाहता हूँ कि भट्टारक सम्प्रदाय में जिस भट्टारक परम्परा का जेरहटशाखा के रूप में उल्लेख है वह वास्तव में चंदेरी शाखा थी। चंदेरी में इस शाखा के अनेक भट्टारकों की छतरी बनी हुई हैं तथा चंदेरी ललितपुर आदि के कई प्रतिमालेखों और चांदखेड़ी के स्तम्भ लेख में भ० देवेन्द्रकीर्ति से लेकर इस शाखा को चदेरी शाखा या पट्ट कहा गया है। यह अवश्य है कि "जेरहट" भट्टारको का पुराना स्थान रहा है और इसीलिए भ० श्रुतकीर्ति किसी कारण वश वहां चले गये और अपनी साहित्य-रचना जेरहट में की।

इन्हीं सब बातों का विचार कर हमने स्वामी जी की बालकाल में भ० देवेन्द्रकीर्ति से भेंट हुई, यह अभिमत प्रगट किया है।

२-शास्त्राभ्यास जीवनः—

स्वामी जी की भेंट भ० देवेन्द्रकीर्ति से तो पहले ही हो गई होगी और उन्होंने अपने कानों से अपने विषय में उनका अभिमत भी जान लिया होगा, इससे सहज ही स्वामी जी का मन उनके (भ० देवेन्द्रकीर्ति के) सम्पर्क में रहकर शास्त्राभ्यास करने का हुआ हो तो इसमें कोई आश्चर्य नही। अतएव लगता है कि ११ वर्ष के होने पर वे अपने परिवार से विदा होकर उनके पास शास्त्राभ्यास के लिए चले गये होंगे। समय शब्द छह द्रव्य नौपदार्थ और द्रव्य श्रुत दोनों के अर्थ में आता है। अतः 'समय मिथ्या विली वर्ष दस' से प्रकृत में यही अर्थ फलित होता है कि ११ वर्ष के होने पर २२ वर्ष की उम्र के होंगे तब स्वामी जी ने अपने शिक्षागुरु की शरण में रहकर शास्त्रीय-अभ्यास द्वारा अपने शास्त्र विषयक मिथ्यात्व (अज्ञान) को दूर किया।

३-स्वात्मचिन्तन मनन जीवन—

स्वामी जी का जीवन तो दूसरे सांचे में ढलना था, उन्हें कोई भट्टारक तो बनना नहीं था, इसलिए लगता है कि वे २१ वर्ष की उम्र होने पर अपने शिक्षागुरु का सानिध्य छोड़कर सेमरखेड़ी अपने मामा के घर चले आये होंगे और वहां के शान्त निर्जन प्रदेश को पाकर एकान्त में स्वात्मचिन्तन मनन में लग गये होंगे। यहां सेमरखेड़ी से कुछ दूर पहाड़ी प्रदेश है, उसके परिसर और ऊपरी भाग में चार गुफायें हैं। परिसर की गुफाओं के सन्निकट एक पहाड़ी नदी है। प्रदेश बड़ा मनोहर और चित्ताकर्षक है। सम्भव है छद्मस्थवाणी का 'प्रकृति मिथ्या विली वर्ष नौ' यह वचन इसी अर्थ को सूचित करता है कि स्वामी जी ने ऐसा एकान्त निर्जन प्रदेश पाकर ध्यान, चिन्तन, मनन द्वारा अपनी उत्तरकालीन जीवनरेखा यहीं पर स्पष्ट और पुष्ट की।

उनके स्वभाव में मार्ग के निर्णय विषयक जो अस्पष्टता थी उसे भी इन नौ वर्षों के चिन्तन मनन द्वारा दूर किया। अब उनके सामने एक स्पष्ट ध्येय था, जिस पर चलने के लिए वे सब परिपक्व हो गये।

वैसे तो टिकानेसार की तीनों प्रतियों में स्वामी जी के अनेक स्थानों पर विचरने का उल्लेख मिलता है, उनमें एक सेमरखेड़ी भी है; पर उन सब उल्लेखों से सेमरखेड़ी विषयक उल्लेख में अन्तर है। वह उनके मामा का निवासस्थान भी था। इससे लगता है कि स्वामी जी के निवास का सेमरखेड़ी खास स्थान रहा होगा[1] और वहीं से वे धर्म की प्रभावना निमित्त अन्य ग्रामों या नगरों में जाते रहे होंगे। मात्र इसीलिये हमने उनके सेमरखेड़ी के निर्जन प्रदेश में या गिरि गुफाओं में स्वस्थ चित्त हो ध्यान–अध्ययन करने का विशेष रूप से उल्लेख किया है।

(४) ब्रह्मचर्य सहित निरतिचार व्रती जीवन—

जैसा कि हम पहले बतला आये हैं अपने जन्म समय से लेकर पिछले ३० वर्ष स्वामी जी को शिक्षा और दूसरे प्रकार से अपनी आवश्यक तैयारी में लगे। इस बीच उन्होंने यह भी अच्छी तरह जान लिया कि मूल संघ कुन्दकुन्द आम्नाय के भट्टारक भी किस गलत मार्ग से समाज पर अपना वर्चस्व स्थापित करते हैं। उसमें उन्हें मार्गविरुद्ध क्रियाकाण्ड की भी प्रतीति हुई। अतः उन्होंने ऐसे मार्ग पर चलने का निर्णय लिया जिस पर चलकर भट्टारकों के पूजा आदि सम्बन्धी क्रियाकाण्ड की अयथार्थता को समाज हृदयंगम कर सके। किन्तु इसके लिये उनकी अब तक जितनी तैयारी हुई थी उसे उन्होंने पर्याप्त नहीं समझा। उन्होंने अनुभव किया कि जब तक मैं अपने वर्तमान जीवन को संयम से पुष्ट नहीं करता तब तक समाज को दिशादान करना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि ३० वर्ष की जवानी की उम्र में सर्वप्रथम वे स्वयं को व्रती बनाने के लिये अग्रसर हुए। छद्मस्थवाणी के 'मिथ्याविली वर्ष सात' इत्यादि वचनों से ज्ञात होता है कि उन्होंने मिथ्यात्व, माया और निदान इन तीन शल्यों के त्यागपूर्वक इस उम्र में व्रत स्वीकार किये। जिनमें उत्तरोत्तर विशुद्धि उत्पन्न करते हुए वे इस पद पर सात वर्ष तक रहे।

उन्होंने अपनी रचनाओं में जनरंजन राग, कलरंजन दोष और मनरंजन गारव को त्यागने का पद–पद पर उपदेश किया है। यहां जनरंजन राग से चारों प्रकार की विकथायें ली गई हैं। कलरंजन दोष से दस प्रकार के अब्रह्म को ग्रहण किया गया है और मनरंजन गारव से सम्यक्त्व के २५ मल[2] लिये गये हैं। इससे मालूम पड़ता है कि अपने व्रती जीवन में उन्होंने इन सब दोषों के परिहार पूर्वक पूर्ण ब्रह्मचर्य का भी सम्यक् प्रकार से पालन किया।

५–मुनि जीवन—

स्वयं को अध्यात्ममय साँचे में ढालने के लिये और अपने संकल्प के अनुसार समाज को मार्गदर्शन करने के लिये उन्हें जो भी करणीय था उसे वे ६० वर्ष की उम्र होने तक सम्पन्न कर

१–ठिकानेसार (बुरई) पत्र २१। २–ठिकानेसार (ब० जी)

चुके थे। संयम के अभ्यास द्वारा उन्होंने अपने चित्त को पूर्ण विरक्त तो बना ही लिया था, अतः वे अन्य सब प्रयोजनों से मुक्त होकर पूरी तरह से आत्मकार्य सम्पन्न करने में जुट गये (१) ठिकानेसार (खुरई) पत्र २२१ (३) ठिकानेसार (ब्र० जी०) पत्र ८५। अर्थात् उन्होंने श्रावक पद की निवृत्ति पूर्वक मुनि पद अंगीकार कर लिया। छद्मस्थवाणी के उत्पन्न भेष उवसग्ग सहन इत्यादि वचन से भी यही ध्वनित होता है कि साठ वर्ष की उम्र होने पर उन्होंने नियम से श्रावक पद से निवृत्ति ले ली होगी और मुनिपद अंगीकार कर वे पूर्ण रूप से संयमी बन गये होंगे। इस पद पर वे अनेक प्रकार के मानवीय तथा दूसरे प्रकार के उपसर्गों को सहन करते हुए ६ वर्ष, ५ माह १५ दिन रहे और जेठ वदी सप्तमी सं० १५७२ को इहलीला समाप्त कर स्वर्गवासी हुए।

यह स्वामी जी का संक्षिप्त जीवन-परिचय है। इसे हमने छद्मस्थवाणी के मिथ्याविलि वर्ष ग्यारह इत्यादि के आधार पर लिपिबद्ध किया है। यद्यपि छद्मस्थवाणी के उक्त बचन गूढ़ हैं। पर उनमें स्वामी जी की जीवन-कहानी ही लिपिबद्ध हुई है, यह पूरे प्रकरण पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है। उनकी जीवनी को लिपिबद्ध करते समय हमने छद्मस्थवाणी के उक्त बचनों को और तात्कालिक परिस्थिति को विशेष रूप से ध्यान में रखा है। इसमें हमनें अपनी ओर से कुछ भी मिलाया नहीं है और न उनके विषय में फैली अनेक उलट पुलट मान्यताओं की ही चर्चा की है।

स्वामी जी का जीवन गौरवपूर्ण था। वे छल प्रपंच से बहुत दूर थे। भय उनके जीवन में कहीं भी नहीं था। उन्हें अनादिनिधन अपने ज्ञायक स्वभाव आत्मा का पूर्ण बल प्राप्त था। वे उसके लिये ही जिये और उसकी भावना के साथ ही स्वर्गवासी हुए। ऐसे दृढ़निश्चयी महान् आत्मा के अनुरूप हमारा जीवन बने, यह भावना है।

साहित्य-रचना —

स्वामी जी ने अपने जीवन में अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की। उनमें आचार की दृष्टि से श्रावकाचार मुख्य है और अध्यात्म की दृष्टि से भयखिपनिक, ममल पाहुड, उपदेश शुद्धसार तथा ज्ञानसमुच्चयसार मुख्य हैं। तीन बत्तीसी की रचना भी प्रायः इसी दृष्टिकोण से हुई है। सिद्धि स्वभाव ग्रन्थ का अपना अलग स्थान है। मुख अध्यात्म की ओर ही है। अन्य सब ग्रन्थों की भिन्न भिन्न प्रयोजनों को लक्ष्य में रखकर रचना हुई है। स्वामी जी का समग्र जीवन अध्यात्मस्वरूप होने से उन सब रचनाओं के द्वारा पुष्टि अध्यात्म की ही होती है। उक्त सब रचनाओं में से ६ रचनाएं अनेक छन्दों में हैं और शेष रचनाएं गद्यमय हैं। भाषा की स्वतन्त्रता है। स्वामी जी ने किसी एक भाषा और व्याकरण के नियमों में अपने को जकड़ कर रचनाएं नहीं की हैं। जहां जिस भाषा में अपने हृदय के भावों को व्यक्त करना स्वामी जी को उचित प्रतीत हुआ वहां उस भाषा का अवलम्बन लिया गया है। रचनाओं में प्राकृत संस्कृत अपभ्रंश और बोलचाल की हिन्दी इन चारों भाषाओं के शब्दों का समावेश किया गया है। अनेक स्थलों पर महावरे के वाक्यों को भी स्थान दिया गया है। कई स्थलो पर रचना का प्रवाह गूढ़ हो जाने से स्वामी जी के हृदय को थाह लेने के लिये अथक परिश्रम अपेक्षित है।

स्वामी जी मर्मज्ञ तत्ववेत्ता होने के साथ संगीतज्ञ भी रहे हैं। लगता है कि वे अपने स्वात्मचिन्तन-मनन और जनसम्पर्क के समय अपनी इस सहज प्राप्त सर्वजनप्रिय कोमल कला का बहुलता से उपयोग करते रहे होंगे। ठिकानेसार की तीनों प्रतियों में ममलपाहुडका कौन फूलना किस निमित्त किस ग्राम में रचा गया, इसका कुछ विवरण लिपिबद्ध किया गया है। उससे उक्त तथ्य की पुष्टि को पूरा बल मिलता है। इस पर से मुझे लगता है कि स्वामी जी ने अपनी ग्रन्थ रचना का प्रारम्भ ममलपाहुड़ से ही किया होगा। मुनिपद अंगीकार करने के बाद अवश्य ही उन्होंने अपने यातायात के क्षेत्र को सीमित कर दिया होगा। श्रावक के सात शीलों को स्वामी जी ने पांच महाव्रतों के साथ मुनि-पद में रहते हुए अपने अधिकतर समय को ध्यान अध्ययन में ही लगाया होगा। स्पष्ट है कि उन्होंने अधिकतर मौलिक रचनाओं का सृजन श्रावक अवस्था में ही कर लिया होगा।

मेरी बहुत समय से यह तीव्र इच्छा रही है कि मैं मध्यप्रदेश बुन्देल-खण्ड के इस महान सन्त के यथार्थ जीवन के विषय में कुछ लिखूं। इसके लिये मैं कुछ समय से प्रयत्नशील भी था। मुझे प्रसन्नता है कि अभी तक मैं इस सम्बन्ध की जो थोड़ी सी सामग्री संचित कर सका उसी का यह परिणाम है जो इस रूप में समाज के सामने प्रस्तुत है। अभी इस विषय पर बहुत कुछ काम होना है। मुझे आशा है, सबके सहयोग से उसमें अवश्य ही सफलता मिलेगी।

इस कार्य में मुझे श्रीमान् श्रीमन्त सेठ भगवानदास जी शोभालाल जी सागर और उनके बड़े सुपुत्र श्रीयुक्त भाई डालचन्द जी का सक्रिय सहयोग मिला है। ठिकानेसार की तीनों प्रतियां उन्हीं के हार्दिक सहयोग से प्राप्त हो सकीं। स्वामी जी द्वारा रचित सभी मुद्रित ग्रन्थ उन्होंने भिजवाये। इसके लिये मैं उनका हृदय से आभारी हूँ। इस सम्बन्ध की अभी कुछ और सामग्री मेरे पास संचित है। जिसका उपयोग मै इसमें नहीं कर सका। स्वामी जी के विषय में दूसरे लेखकों द्वारा जो कुछ भ्रामक लिखा गया उस पर भी अभी मैंने विचार नहीं किया है। जनश्रुति के अनुसार उनके विषय में जो मान्यतायें प्रचलित हैं उन पर भी सांगोपांग विचार करना है। मैं सोचता हूं कि जब उनके समग्र साहित्य का आलोडन कर उसे लिपिबद्ध किया जाय तभी इन सब तथ्यों पर विचार करना उचित होगा। इसलिए अभी उन सबको दृष्टिओझल कर दिया है। अभी मैंने स्वामी जी की जीवनी के जिस परिष्कृत रूप को साधार प्रस्तुत किया है उसमें मैं कितना सफल हुआ हूँ इसका निर्णय पाठकों पर छोड़ता हूं। शेष शुभ।

श्री सन्मति जैन निकेतन
नरिया, वाराणसी-५
२१-५-७४

卐

फूलचन्द्र शास्त्री.

सम्यक् प्रवृत्ति : सम्यक् निवृत्ति

(द्वितीय खण्ड)

एकं जिनं सरूवं, जिन रूवं जिनवरेहि निद्दिट्ठं ।
जिनयतिकं मति सुद्धं, सुद्धं सम्मत्त सुद्ध स सरूवं ॥३७६॥

******

जितने भी जिन हैं सबही का, एक स्वभाव विमल है ।
शुद्ध बुद्ध आनन्द सभी का रूप परम उज्ज्वल है ॥
शुद्ध ज्ञान समकित पर जिनने जय की ध्वज फहराई ।
जिनवाणी कहती है भव्यो, वे ही हैं जिनराई ॥

******

जितने भी जिन हैं, सबका एक समान ही विमल स्वभाव है । सब शुद्ध हैं, बुद्ध हैं और सबका परम उज्ज्वल रूप है । जिन्होंने शुद्ध ज्ञान को पूर्ण रूप से प्राप्त कर लिया, बस वही जिन संज्ञा के धारी महापुरुष हो जाते हैं ।

जिनयं घाय चवक्कं, जिनयं संसार सरनि मोहंधं ।
कम्ममल पयडि जिनयं, अप्पा परमप्प सुद्ध स सरूवं ॥३७७॥

******

चार घातिया कर्मों का दल, जिस जन ने संहरा ।
भव भव भ्रामक मोहबली को जिसने पल में मारा ॥
कर्म काट जिनके आतम ने, परमातम पद पाया ।
जिन श्रुतियों में वीर वही, वह भव्यो ! जिन कहलाया ॥

******

जिन्होंने चार घातिया कर्मों को काटकर चूर्ण बना दिया, मोह बली का जिन्होंने पूर्ण-
ा से संहार कर दिया, तथा आत्मा से जिन्होंने परमात्मा पद प्राप्त कर लिया, उन्हीं ने 'जिन'
ा प्राप्त करली है और वे जिनेश या जिनेन्द्र पद से विभूषित हो गये हैं। यों तो चतुर्थ गुणस्थान
त आत्मा भी आँशिक जिन संज्ञा को प्राप्त हो जाती है और कर्मों को क्षय करने लगती है ।

जिनयं कुज्ञान सुभावं, मय मिथ्यात सल्य तिविहिं च ।
जिनयं कषाय भावं, जिनरूत्री सुद्ध साधओ निश्चं ॥३७८॥

******

जिन प्रभु के ही सदृश कि होते, जैन श्रमण बड़भागी ।
होते मद मिथ्यात्व कि तीनों शल्यों के जो त्यागी ॥
चार कषायों के बंधन वे, तृण से तोड़ बहाते ।
जिन रूपी हो, आत्म-मनन में ही नित काल बिताते ॥

******

जिन भगवान के सदृश्य ही जैन साधु भी होते हैं। वे भी तीनों शल्यों के त्यागी होते
। कषायें उन्हें भी नहीं सताती। तथा वे भी परमानंद में स्थित हो सदा आत्मा का ही मनन
र चिन्तवन करते हैं कि जिसके द्वारा यथा गुणस्थान अधिकाधिक कर्मों को क्षय करते रहते हैं।
र एक दिन जिनेश पद को प्राप्त कर लेते हैं।

ज्ञान सहाव स उत्तं, ज्ञानं ज्ञानेन ज्ञान सं सुद्धं ।
ज्ञानं ममल सरूवं, जं रयनं दिनयरं तेजं ॥३७९॥

साधु जिसे धारण करते, वह ज्ञान, कि वह है प्यारे ।
करता जो नित ज्ञान—कुंज में क्रीड़ा ज्ञान सहारे ॥
दिनकर में जैसे कि तिमिर की, होती रेख नहीं है ।
शुद्ध ज्ञान में तैसे विखता, रंच न दोष कहीं है ॥

जिस ज्ञान को जिन यति धारण करते हैं, वह वह ज्ञान होता है, जो ज्ञानकुंज में ज्ञान के सहारे सदा क्रीड़ा किया करता है । जिस प्रकार सूर्य में अंधेरे की रेखा नहीं रहती, उसी प्रकार शुद्ध ज्ञान में दोष की कहीं परछाईं भी नहीं पड़ती ।

रूवं अरूव सुद्धं, रूवातीतं च विगत रूवेन ।
विज्ञान ज्ञान रूवं, जिनरूवी साधओ सुद्धं ॥३८०॥

जो रूपी है, और कि जिसका कोई रूप नहीं है ।
रागद्वेष का दल मंडराता, जिसके ढिग न कहीं है ॥
आतम—सर में जो नित लेता, लोल सुडोल लहर है ।
जिन यतियों का केलि-बिन्दु बस, ज्ञान वही सुखकर है ॥

जो रूपातीत होकर भी व्यक्त है, रागद्वेष से जो पूर्ण परे है, जो आत्मसिंधु में सदा किल्लोल किया करता है, श्री जिनेन्द्र भगवान कहते हैं कि जैन साधुओं का केन्द्रबिन्दु बस वही ज्ञान है ।

मूल गुनं संसुद्धं, उत्तर गुन सुद्ध धरंति साहूनं ।
साहू साधु ति अर्थं, पंचार्थं पंचार्थं पंच ज्ञान संसुद्धं ॥३८१॥

जिन यति अट्ठाईस मूल गुण, नित पालन करते हैं ।
उत्तर-गुण इक्कीस नित्य वे, जीवन में धरते हैं ॥
रत्नत्रय औ पंच अर्थ के होते हैं वे धारी ।
रत्नत्रय का करते हैं वे, नित्य मनन सुखकारी ॥

जैन साधु २८ मूल गुण और २१ उत्तर गुणों का नित्य प्रति पालन करते हैं। वे रत्नत्रय और पंच अर्थ के धारी होते हैं तथा दर्शन, ज्ञान, और चरित्र का वे नित्य प्रति मनन और चिन्तवन करते हैं ।

पंच ज्ञान स सहावं, दह धम्मं सम्मत्त सुद्ध सं सुद्धं ॥
तेरह विहस्य चरनं, सम्मतं संजमेन सुद्ध संजुत्तं ॥३८२॥

जिन यति नित प्रति पंच ज्ञान में क्रीड़ाएं करते हैं ।
तेरह विधि चारित्र सतत वे, जीवन में धरते हैं ॥
समकित के, दश धर्मों के वे, होते पूर्ण पुजारी ।
पूर्ण जतन से रखते हैं वे, संयम की फुलवारी ।

जैन साधु नित्य प्रति पंच ज्ञान में रमण करते हैं और तेरह प्रकार के चारित्रों का पूर्ण रूप से पालन करते हैं । रत्नत्रय और उत्तम क्षमा आदिक दस धर्मों के भी वे पूर्ण पुजारी होते हैं तथा संयम की रक्षा करने में हमेशा जागरूक बने रहते हैं ।

गुन रूव भेयविज्ञानं, ज्ञान सहावेन संजुत्त ध्रुव निश्चै ।
मूलगुनं सं सुद्ध, उत्तरगुन धरइ निम्मलं विमलं ॥२८३॥

++++++

भेदज्ञान के द्वारा, आतम—प्रभु का अनुभव करना ।
कहते हैं इस ही को जिन प्रभु, मूल गुणों का धरना ॥
रागद्वेष को त्याग कि करना आत्म–मनन सुखदाई ।
निश्चय से कहते इस ही को उत्तरगुण जिनराई ॥

++++++

भेदज्ञान के द्वारा आत्मा का मनन, चिन्तवन करना, इसी का नाम मूलगुण और रागद्वेष का त्याग कर नित्य प्रति आत्मा के गुणों में लवलीन रहना, इसी का नाम श्री जिनेन्द्र देव ने उत्तरगुण दिया है ।

✷

उत्तर ऊर्ध सहावं, ऊर्ध सहाव विमल निम्मलं सहसा ।
सुद्ध सहावं पिच्छदि, उत्तरगुन धरंति सुद्ध स सहावं ॥२८४॥

++++++

हो जाता है प्राप्त हमें जब ऊर्ध्व स्वभाव हमारा ।
हो जाता तब उत्तर–गुण से शोभित चेतन प्यारा ॥
क्या है उर्ध्व स्वभाव का पाना, केवलज्ञान निराला ।
क्या है केवल, पीना केवल आतम—रस का प्याला ॥

++++++

जब हमें हमारे उर्ध्वस्वभाव की प्राप्ति हो जाती है तब हमारा चेतन उत्तर गुणों से सुशोभित हो जाता है । उर्ध्वस्वभाव क्या है ? केवल केवलज्ञान की प्राप्ति, और केवलज्ञान क्या है ? केवल आत्मानंद को पूर्णरूप से प्राप्त कर लेना ।

मूल उत्तर संसुद्धं, सुद्धं सम्मत्त सुद्ध तवयरनं ।
तिक्तं चेल सहावं, सुद्धं सम्मत धरन संसुद्धं ॥३८५॥

मूल और उत्तर का जोड़ा, जिसका शुद्ध विमल है ।
शुद्ध विमल जिसका समकित है, शुद्ध विमल तपबल है ॥
होता है कोपीन सदृश जो परभावों का त्यागी ।
जिन आगम में कहलाता है, साधु वही बड़भागी ॥

जिसके पास मूल और उत्तरगुणों की अनमोल निधि है, सम्यक्त्व से जिसका हृदय परिपूर्ण है तथा कोपीन के समान जो परभावों को भी छोड़ देता है वही जिनशास्त्रों में निर्ग्रन्थ साधु कहलाता है । तथा जो छोड़ना चाहता है और छोड़ने में सतत प्रयत्नशील रहता है वह भाव साधु अथवा जैन श्रावक कहा जाता है कि जिसे ही आचार्यों ने अव्रती सम्यग्दृष्टि श्रावक कहा है । यही भावमोक्ष की साधना-सही साधना क्रमशः अणुव्रती और महाव्रती बनाकर इस आत्मा को द्रव्यमोक्ष की प्राप्ति करा देती है, मोक्ष पहुँचा देती है । अतः इसी ग्रन्थ के प्रथम खण्ड में—गाथा नं० १५१ से ३०० तक में अव्रत सम्यग्दृष्टि और उसकी साधनायें—इन का विशद वर्णन श्री गुरु महाराज ने किया है । जो पठनीय और आचरणीय है । – ब्र० गुलाबचन्द.

चेलं पंच सहावं, तिक्तं परिनाम चेलजं रतियं ।
अंडज वुंडज उत्तं, वंकज चरमज रोम विरयंति ॥३८६॥

अंडज, वुंडज, बंकज, चरमज और कि रोमज प्यारे ।
होते हैं ये पांच तरह के वस्त्र जगत में न्यारे ॥
इन वस्त्रों में रंच न रखते जो ममता दुखदाई ।
कहलाते हैं जिन आगम में, साधु वही हे भाई ॥

अंडज, वुंडज, बंकज, चर्मज और रोमज ये पांच प्रकार के वस्त्र होते हैं । जो इन पांचों प्रकार के वस्त्रों का त्यागी होता है वही निर्ग्रन्थ साधु कहलाता है ।

अंडज चेल स उत्तं, हृदय असुद्ध भावजं रसियं ।
परिनाम असत्य सहियं, तिक्तंति चेल अंडजं भनियं ॥३८७॥

रेशम के ही कोष न केवल अंडज वस्त्र बनाते ।
कुछ अंतर भी रेशम से ही भाव मलिन उपजाते ॥
ऐसे अभ्यंतर वस्त्रों को पास न जो जन लाते ।
निश्चयनय से अंडज त्यागी, साधु वही कहलाते ॥

जगत की धारणा के अनुसार रेशम के कोश ही केवल अंडज वस्त्र बनाते हैं, जिनमें लाखों जीवों की हिंसा होती है, लेकिन वास्तविकता यह नहीं है। कुछ ऐसे मलिन हृदय भी होते हैं, जिनसे रेशम से ही अपवित्र भाव उपजते हैं। ऐसे अभ्यंतर भाव रूपी वस्त्रों को जो साधु पूर्णरूप से त्याग देते हैं, वही अंडज वस्त्र त्यागी दिगम्बर साधु कहलाते हैं।

अंडज मनथं रूवं, आलापं सरपंच विभ्रमं सहियं ।
रंजन लोक सहाव, तिक्तंति शुद्ध साधवाऽसुद्धं ॥३८८॥

जैसे अंडज वस्त्र कि होते हैं पापों के प्याले ।
वैसे ही होते अंतर के राग भाव मतवाले ॥
इनके चंगुल में पड़ मानव, विभ्रम में फंसते हैं ।
साधु कि इन अंडज भावों से, दूर सदा बसते हैं ॥

जिस प्रकार अंडज वस्त्र पापों के भंडार होते हैं उसी प्रकार अंतर के रागद्वेष आदिक भाव भी पापों के घर ही होते हैं। इनके चंगुल में फंसकर भी मानव अनेकों विभ्रमों के पात्र बनते हैं, अतः साधु इन अंडज भावों से सदा दूर ही बसते हैं।

अभिंतर असुह सहावं, सल्यं सहकार विभ्रमं उत्तं ।
अनेय भेय अनर्थं, अज्ञानं भावं सयल तिक्तंति ॥

++++++

मन के भीतर बहती है जो, परभावों की नाली ।
उन सब में करती विभ्रम युत, शल्यें क्रंदन काली ॥
इन भावों में ताली दे दे, सर्वनाश हँसता है ।
इससे ज्ञानी इन भावों में रंच नहीं फंसता है ॥

++++++

मन के भीतर जो परभावों की जालियां होती हैं, उनमें कुटिल शल्यों का निवास रहता है । इन भावों में सर्वनाश छिपा रहता है । अतः ज्ञानीजन कभी भी परभावों के चंगुल में नहीं फंसते ।

▣

वुण्डज भाव स उत्तं, वत्नं असुहाइनंद सहकारं ।
गुनदोसं नवि पिच्छदि, वुण्डज सभाव सयल तिक्तंति ॥३९०॥

++++++

होते सूती वस्त्र न केवल वुंडज वस्त्र सयाने ।
रागद्वेष भी वुंडज जैसे, बुनते ताने—बाने ॥
अशुभ भाव में मोद मनाते, जो परभाव दुखारी ।
तज देते वे भाव-वस्त्र सब, साधु कि समकित धारी ॥

++++++

वुंडज वस्त्र ही केवल ताना, बाना डाल कर सूती वस्त्र नहीं बनाते, रागद्वेष भी यही काम करते हैं, और एक पापों का जाल बनाकर तैयार कर देते हैं । इन पापों का कपड़ा बुनने वाले अशुभ रागद्वेषादिक भावों को समकित धारी साधु पूर्णरूपेण त्याग देते हैं ।

वुंडज पाप सरूवं, हिंसा अनृत असत्य आनंदं ।
दह विधि अबंभ नंदं, वयनं तिक्तंति वुंडजं भावं ॥३९१॥

++++++

जैसे वुन्डज वस्त्र कि भव्यो ! हिंसा के ही घर हैं ।
वैसे ही ये भाव कि वुन्डज, पापों के आगर हैं ॥
इनके हर धागों में करते, पांचों पाप रमण हैं ।
तज देते वुन्डज भावों को, इससे साधु सुजन हैं ॥

++++++

जिस तरह वुंडज के वस्त्र हिंसा के घर होते हैं, उसी तरह वुंडज भाव भी पापों के निधान हैं। इनके धागे धागे में भी पांचों प्रकार के पाप छिपे रहते हैं। अतः ज्ञानी साधु इन वुंडज भावों को पूर्णरूप से त्याग देते हैं। छल-कपट के भावों को वुंडज भाव कहते हैं।

❋

बंकज सहाव उत्तं, ज्ञानं विज्ञान बंकजं रूवं ।
दर्सन असुद्ध दर्सं, बंकज भावेन सयल तिक्तंति ॥३९२॥

++++++

होते बंकज वस्त्र कि जैसे, वक्राकार निराले ।
होते सब परभाव कि वैसे, ही अनडोले काले ॥
इन भावो में माया अपना, वक्र स्वरूप दिखाती ।
साधु मंडली इससे बंकज भावों पास न जाती ॥

++++++

जिस प्राकार बंकज वस्त्र वक्राकार, आड़े, तेड़े आदि होते हैं, उसी प्रकार सारे परभावों की सृष्टि हुआ करती है। इन भावों में माया का प्रमुख स्थान रहता है, अतः साधु पुरुष इन बंकज भावों के पास नहीं जाते बंकज भाव कठोर भावों को कहते हैं कि जिनका उपयोग दुष्टता-पूर्ण होता है।

बंकज अशुद्ध भावं, ज्ञानावरनादि घाय उववन्नं ।
ज्ञान सहावन दिट्ठं, बंकज तिक्तंति साधवाऽसुद्धं ॥३९३॥

बंकज से जो टेढ़े मेढ़े, भाव अशुभ होते हैं ।
ज्ञानावरणादिक कर्मों का, बीज कि वे बोते हैं ॥
जगमग-जग आतम पर वे नित, काजल बरसाते हैं ।
इससे बंकज भावों के ढिग, साधु नहीं आते हैं ॥

जो बंकज वस्त्रों-से अशुभ भाव होते हैं, वे नित्य प्रति ज्ञानावरणीय कर्म का आस्रव किया करते हैं। वे आत्मा के उज्ज्वल पट को हमेशा अज्ञानरूपी तिमिर से ढका करते हैं, इससे ज्ञानी साधु कभी बंकज भावों के पास नहीं जाते। क्योंकि कठोर-दुष्टता के भाव घातिया कर्मों का बंध करते हैं।

कप्प वियप्पं जानदि, सुद्ध स सहाव बंकजं रूवं ।
बंकज ममल सहावं, बंकज तिक्तंति ज्ञानसहकारं ॥३९४॥

होता नित संकल्प विकल्पों, का जिस ठौर रमण है ।
बिखलाता है आत्मज्ञान भी जिस थल टेढ़ापन है ॥
जिस थल सारे वक्र भाव हैं आत्मस्वभाव न तिल है ।
साधु कभी उस ठौर न जाता, यह ध्रुव है निश्चल है ॥

जहाँ संकल्प,-विकल्प पैदा होते रहते हैं, आत्मज्ञान जहां अपना रूप नहीं दिखलाता, तथा जहाँ पर सब भाव वक्राकार हैं—अशुभ हैं, साधु वहां कभी भूलकर भी नहीं जाते। और घातिया कर्मों के बंध से अपनी आत्मा को सदैव दुखाते रहते हैं।

चरमज सहाव उत्तं, जं चरनं चरंति नेय कालंमि ।
चरनं विभ्रम रूवं, संसारे सरनि तिक्तंति ॥३९५॥

चर्मों के ही वस्त्र न केवल, मन में भ्रम उपजाते ।
मन के जो परभाव कि वे भी, मानव को भरमाते ॥
ये भ्रामक परभाव कि करते, भव को गहरी खाई ।
इससे चर्मज भावों के ढिग जाते साधु न भाई ॥

केवल चर्मों के वस्त्र ही मन में विभ्रमों को जन्म नहीं देते परभाव भी यही कार्य करते हैं। परभाव जनित यह अज्ञान, संसार सागर को विस्तृत ही करता है, अतः साधुजन इन चर्मज भावों की छाया भी नहीं लांघते। चर्मज भाव-शरीर के रूप रंग में आशक्ति भावों को कहते हैं। अतः अपने व पर के शरीर में रूप रंग में रंच मात्र भी आशक्ति का भाव साधु नहीं रखते।

चरनं विप्रिय भावं, आरति रौद्रं च चरन सद्भावं ।
अनेय चरनं चरियं, चरनं तिक्तंति ज्ञान सहकारं ॥३९६॥

रहता है चर्मज स्वभाव का, जिस अन्तर में डेरा ।
करता है मिथ्यात्व मार्ग में, बस वह जीव बसेरा ॥
आर्तरौद्र ध्यानों में ही वह, अपने पैर बढ़ाता ।
साधु नहीं चर्मज भावों से, रखते इससे नाता ॥

जहां पर चर्मज भावों का डेरा रहता है, वहां मिथ्यात्व अपनी गहरी नींव जमा लेता है। आर्त और रौद्र ये दो कुटिल ध्यान ही उस जगह जाग्रत रहते हैं, अतः साधु पुरुष चर्मज भावों को अपने हृदय में ठौर नहीं देते।

चरनं सुभाव तिक्तं, चौगय संसार सरनि नेयकालंमि ।
विषय वसन संवरनं, चर्मज चेल तिक्तंति ससहावं ॥३१७॥

आत्म-रमण को छोड़ कि जो नर, जड़ता में फँसता है ।
वह अगणित युग तक, इस गति से उस गति में बसता है ॥
चर्मज जिसके भाव, कि करता वह व्यसनों में क्रीड़ा ।
साधु न इससे उनके ढिग जा, सहते भव भव पीड़ा ॥

जो पुरुष आत्मा से नेह छोड़कर, पर भावों में शरण लेता है, वह अगणित युगों तक संसार की धूल छानता है । जिसके चर्मज भाव होते हैं, वह अनेकों व्यसनों में फँस जाता है । इससे साधु पुरुष उन भावों में भूलकर भी नहीं फंसते, क्योंकि चर्मज अर्थात् रूप रंग के भाव ही तो अज्ञानी मिथ्यात्वी जीवों को व्यसनों में फंसाते हैं ।

रोमज सहाव उत्तं, रुचियं नोकम्म दव्वकम्मानं ।
भावं रुचित असुद्धं, रोमज तिक्कंति ज्ञान सहकारं ॥३१८॥

रोमज ही वे वस्त्र नहीं जो, अपना रूप भुलाते ।
ऐसे भी परभाव कि अन्तर, जो दृगहीन बनाते ॥
मूरख नर को आतम-अप्रिय, कर्म भले लगते हैं ।
साधु न रोमज भावों में फस अपने को ठगते हैं ॥

रोमज वस्त्र ही केवल, भुलावा देकर हमें अपना रूप विस्मृत नहीं कराते, परभावों की सृष्टि भी हमारे अन्तर को अन्धा बना देती है । अज्ञानियों को ऐसे रोमज भाव ही प्रिय लगते हैं, किन्तु ज्ञानीजन उनसे कभी भी नहीं ठगाते ।

रुचियं कुज्ञान मइओ, रुचियं मिथ्यात विषय सुभावं ।
रुचियं पुग्गल रूवं, रोमज तिक्कंतिं चेयना भावं ॥३९९॥

******

रोमज जिसके भाव कि होता, वह मिथ्यात्व पुजारी ।
रहती है कुज्ञान—कीच में उस नर की रुचि भारी ॥
पुद्‌गल के ही खेल निरन्तर वह खेला करता है ।
साधु नहीं रोमज भावों के पथ में पग धरता है ॥

******

जिसके रोमज वस्त्रों के समान कुटिल भाव होते हैं, वह नर मिथ्यात्व का परमभक्त होता है । कुज्ञान रूपी कीचड़ में ही वह हमेशा क्रीड़ा किया करता है और पुद्गलों के संसार में ही अपना खेल रचाया करता है । जो साधु पुरुष होते हैं, वे ऐसे रोमज भावों से अपना नाता नहीं रखते । जैसे शरीर का विकार रोम (बाल) होता है वैसे ही दूषित भाव प्राणी के विकारी भावों को ही गुरुमहाराज ने रोमज वस्त्र की उपमा दी है ।

ए पंच चेल उत्तं, तिक्कं मन नयन काय सभावं ।
विज्ञान ज्ञान सुद्धं, चेलं तिक्कंति निव्वुए जंति ॥४००॥

******

अंडज, बुंडज, वंकज, चर्मज और कि रोमज प्यारे ।
जिन आगम में बतलाए हैं वस्त्र कि पाँचों न्यारे ॥
इन वस्त्रों का मन, वच, तन से जो बनता परिहारी ।
आतम में हो लीन कि वह नर बनता शिव अधिकारी ॥

******

अंडज, बुन्डज, वंकज, चर्मज और रोमज जो ये पांच तरह के वस्त्र बताये हैं उनका जो बाह्य और आभ्यंतर दोनों प्रकार से परित्याग कर देते हैं, वे आत्मा में लीन रहते हुए एक दिन अवश्य ही निर्वाण के पात्र बन जाते हैं ।

चेलं वाहिज उत्तं, चेलं पंचमि तिक्त मोहंधं ।
चेल सहाव न ग्रहनं, वस्त्रं तिक्तंति चेल उत्पन्नं ॥४०१॥

आतम से जो भिन्न—परे हो, चेल वही है भाई ।
साधु इसी से तज देते यह मोह-चेल दुखदाई ॥
साधु वही है जिसके तन पर पाँचों चेल नहीं हैं ।
और चेल से भाव कि दूषित जिसके उर न कहीं हैं ॥

आतम से जो भिन्न हो—परे हो उसी का नाम चेल है। साधु पुरुष वही होता है, जिसके पास न तो चेल ही होता है, और न चेल के समान दूषित भाव। क्योंकि जैसे वस्त्र शरीर को ढंक लेते हैं वैसे ही भीतर के सभी प्रकार के दूषित भाव आत्मा के शुद्ध स्वरूप को ढंके रहते हैं। अतः भावलिंगी साधु जैसा बाहर से वस्त्रविहीन रहता है वैसा ही अन्तर में समस्त दोषों से विहीन रहता है।

दिगम्बर वयन उत्तं, दिग् दिसा अंबरेन सभावं ।
अंबर चेल विमुक्तं, दिगंबरेन ज्ञान सहकारं ॥४०२॥

दिक् वस्त्रों का धारी हो या, दिक् हो जिसके अम्बर ।
कहलाते हैं जिनशासन में वे ही साधु दिगम्बर ॥
पंच चेल का संग कि जो नर, तृण सा तोड़ बहाते ।
आत्मज्ञान के धारी वे ही, सम्यक् साधु कहाते ॥

दिशा ही जिनके वस्त्र हों या जो दिशा रूपी अंबर पहिनते हों, उन्हें ही दिगम्बर कहा जाता है। जो पांचों चेलों का परिग्रह तृण के समान तोड़कर फेंक देते हैं, वे ही आत्मज्ञान के धारी पुरुष, सम्यक् साधु कहलाते हैं।

पूर्वं पूर्वं उक्तं, पूर्वं सहकार परम भचीए ।
पूर्वं ज्ञान सहावं, पूर्वं उत्तं च निम्मलं विमलं ॥४०३॥

******

होते हैं सत्साधु दिगम्बर, उस अम्बर के धारी ।
जिसमें मुस्कातीं दिशि-विदिशा पूरब सी सुखकारी ॥
पूरब है वह पूर्व जगाता जो रवि—सा उजियाला ।
छलका करता आत्मज्ञान का कन कन जिसमें प्याला ॥

******

दिगम्बर साधु उस दिशा रूपी अम्बर के धारी होते हैं, जिसमें पूर्व के समान दिशायें हैं। पूर्व दिशा वह है जो पूर्वों के समान अंतर में प्रकाश जगाती है और जिनका पठन-पाठन कर अन्तर आत्मज्ञान से परिपूर्ण हो जाता है।

*

पूर्वं परम सरूवं, अप्पा सुद्धप्प हवे परमप्पा ।
ज्ञानेन ज्ञान ममलं, ज्ञान सहावेन पूर्वं उवएसं ॥४०४॥

******

पूरब है वह पूर्व-पूर्व या, वह जगमग आतम है ।
जिस आतम के प्रति कन कन में, हँसता परमातम है ॥
पूरब है वह पूर्व कि जगता, जिससे ज्ञान विमल है, ।
ज्ञान कि वह कहता जग जिसको, केवलज्ञान ममल है ॥

******

पूर्व दिशा वह पूर्व है, जो आत्मस्वरूप है। दूसरे शब्दों में पूर्व वह पूर्व है जो विमल ज्ञान को उत्पन्न करता है और अन्त में आकर केवलज्ञान में विलीन हो जाता है।

नंत चतुष्टय पूर्वं नंतानंतं च ज्ञान सहकारं ।
रागादि दोस तिक्तं, अंबर पूर्वं च ज्ञान उक्तं च ॥४०५॥

पूरब है वह पूर्व कि जो है, नंत चतुष्टय धारी ।
पूरब है वह पूर्व ज्ञान में होता जो सहकारी ॥
पूरब वह जिसमें न मलों की, रहती बदली कारी ।
होते हैं निर्ग्रंथ साधु बस, इन वस्त्रों के धारी ॥

पूर्व दिशा वह पूर्व है—वह आत्मा की निधि है जो अनन्त चतुष्टय का धारी है । ज्ञान में जो पूर्णरूपेण सहकारी है और जिसमें रागादिक दोषों की कहीं छाया भी नहीं दिखाती । दिगम्बर साधु इसी पूर्व दिशा के धारी होते हैं ।

अग्निं च अग्रभावं, अग्रं अवयास सुद्ध अवयासं ।
अग्रं ममल सहावं, अग्नि दिसा च अंबरं ममलं ॥४०६॥

रहते हैं सत्साधु दिगम्बर, उस अंबर के धारी ।
जिस अम्बर में आग्नेय-सी, रहती दिशि सुखकारी ॥
आग्नेय क्या अग्नि ? अग्नि है ऊर्ध्व, ऊर्ध्व चेतन है ।
आतम के परिधान पहिनता, यों निर्ग्रन्थ श्रमण है ॥

दिगम्बर साधु उन दिशाओं और विदिशाओं के धारी होते हैं, जिनमें आग्नेय सी विदिशा मुस्काती है । अग्नि से उत्पन्न हुई हो उसे आग्नेय कहते हैं । अग्नि ऊर्ध्व स्वभाव की धारी होती है और आत्मा भी ऊर्ध्व स्वभाव का धारी है । इस प्रकार दिगम्बर साधु आत्मा के ही ऊर्ध्व वस्त्र पहिनते हैं ।

अग्निं च अग्र तेजं, जोत्ति स सहाव रूव सं सुद्धं ।
अग्रं तिलोय महओ, लोकालोकेन लोकनं अग्निं ॥४०७॥

आग्नेय जो अग्निमयी हो, और अग्नि वह भाई ।
गति हो जिसकी ऊर्ध्व, तेज हो जिसका सूरज नाई ॥
आतम का भी तेज कि देता त्रिभुवन को उजियाला ।
आतम के यों वस्त्र पहिनता, यति निर्ग्रन्थ निराला ॥

आग्नेय उसे कहते हैं, जो अग्निमयी हो, और अग्नि वह जो गतिमान हो, ऊर्ध्व हो और जिसका प्रचण्ड तेज हो । ये सारे गुण आत्मा में विद्यमान हैं, अतः निर्ग्रन्थ साधु सदा आत्मा के ही वस्त्र पहिनता है । अर्थात् सदैव आत्मीय आनन्द में मग्न रहता है ।

दष्यन दिसि अंबरयं, वर दंसन ज्ञान चरन सहकारं ।
दंसेइ मोक्खमग्गं, नन्तानन्त दिस्टि संदर्स ॥४०८॥

होते हैं निग्रन्थ साधु उस, दक्षिण दिश के धारी ।
होती है जो मुक्तिदर्शिका, रत्नत्रय को प्यारी ॥
आतम में भी रत्न कि तीनों करते नित विचरण हैं ।
होते आतम अंबर धारी, यों निग्रन्थ श्रवण हैं ॥

निर्ग्रन्थ साधु दक्षिण दिशा के वस्त्र पहिनते हैं और दक्षिण वह जो मुक्ति को दरशाये और रत्नत्रय को धारण करे । आत्मा भी मुक्तिमार्ग को दर्शाने वाला, तीन रत्नों का धनी रहता है, अतः निर्ग्रन्थ साधु सदा आत्मा के ही वस्त्र पहिनता है ।

दंसेइ तिहुवनग्रं, दंसन दंसेइ नन्त सहकारं ।
षिपि ऊन तिनिहि कम्मं, ज्ञान सहावेन सुदर्सनं ममलं ॥४०९॥

दक्षिण वह जो दर्शन मय हो, और कि वह दर्शन है ।
त्रिभुवन के सर्वोच्च शिखर पर जिसका सिंहासन है ॥
आतम का जो सहकारी है, त्रिविधि कर्म क्षयकारी ।
होते हैं निर्ग्रन्थ साधु यों, दर्शन-पट के धारी ॥

दक्षिण वह जो दर्शन का धारी हो और दर्शन वह जो संसार के सर्वोच्च शिखर पर विराजमान है, जो आत्मा का सहकारी है और तीनों कर्मों के ताप को हरने वाला है । आत्मा दर्शनगुण से भरपूर है, अतः निर्ग्रन्थ साधु आत्मा के या दर्शन के ही वस्त्र धारण करने वाले होते हैं । कर्म सिद्धाँत में उनका अटल श्रद्धान रहता है, जिससे वे सप्त भय रहित रहते हुये आनन्द-मग्न रहते हैं ।

दष्यन दिसि अंबरयं, दिष्टं ज्ञान पंच सभावं ।
षिपनक रूव सुदिट्ठं, अंबर दिसियं च ज्ञानसहकारं ॥४१०॥

दक्षिण वह जिसमें करता हो, ज्ञान कि वह उजियाला ।
जिसको जिन आगम कहता है, केवलज्ञान निराला ॥
दक्षिण वह जिसमें नित रमता, पंचम ज्ञान सुखारी ।
वह हो है निर्ग्रन्थ कि जो हो दक्षिण दिशि का धारी ॥

दक्षिण वह जो सर्वोच्च ज्ञान केवलज्ञान का निधान हो । और इसी से निर्ग्रन्थ साधु वही कहलाता है जो ज्ञान के निधान आत्मा के ही वस्त्र पहिनने वाला हो या दक्षिण दिशा का धारी हो । यानी वह आत्मा के शुद्धोपयोग में दक्ष होता है ।

नैरित्यं उत्तएसं, ऋतं जानेहि सुद्ध स सहावं ।
अनृत असरन तिक्तं, ऋतं लोयालोयं च धुव निश्चं ॥४११॥
ऋतं अनंतं भावं, चेयन संजुत्तु ऋत सहकारं ।
नैरित्यं ऋत दिट्ठं, नैरित्यं ऋत ज्ञान अंबरयं ॥४१२॥

******

साधु वही नैऋत्य दिशा के, पट का हो जो धारी ।
और कि जिसका ऋत स्वभाव हो, वह नैऋत्य सुखारी ॥
जगमग जग ऋत से आलोकित आतम का कन कन है ।
आतम के परिधान पहिनता, यों निर्ग्रन्थ श्रमण है ।

******

सत्साधु वही कहलाता है, जो नैऋत्य दिशा का धारी हो, और नैऋत्य वह जिसका ऋत स्वभाव हो। ऋत या सत्य स्वभाव केवल आत्मा का ही है, इससे साधु सदा आत्मा के वस्त्र धारण करने वाले होते हैं। सत-चित-आनन्द रूप आत्मा में ही रमण करने वाले होते हैं।

✱

पश्चिम पिच्छदि सुद्धं, संसार सरनि असुद्ध न हि पिच्छं ।
पिच्छदि अप्प सहावं, अप्पा सुद्धप्प ज्ञान परमप्पा ॥४१३॥

******

पश्चिम वह जिसमें निर्मलता, कन कन से मुसकावे ।
सांसारिक भ्रामक भावों की, गंध न जिसमें आवे ॥
आतम के सम चित स्वभाव सा, जिनका ज्ञान अगम है ।
आतम को परमातम जाने, वह ही दिग् पश्चिम है ।

******

पश्चिम दिशा वह जो पूर्ण निर्मल हो—जिसमें संसार के भ्रामिक भावों की गंध भी न आवे। वास्तव में आतम के सम्यक्त्व स्वभाव से जो परिपूर्ण है और जो आतम को ही परमात्मा जाने, वही वास्तव में पश्चिम है।

पिच्छदि अनन्त रूवं, विन्नानं न्नान पिच्छि सभावं।
मिथ्या सल्य विमुक्कं, पच्छिम पिच्छेइ अंबरं ममलं ॥४१४॥

पश्चिम वह दिखती कि जहां पर, आतम प्रभु की झांकी।
पश्चिम वह ढुलती कि जहां पर, प्याली ज्ञान सुधा की॥
साधु वही जो शल्य छोड़कर, आतम में रंग जाये।
पश्चिम के आतम रस भीगे, अंबर अंग लगाये॥

पश्चिम वह है, जहाँ आत्मा की निर्मल झांकी दिखती हो जहाँ भेदविज्ञान की नित्यप्रति प्याली ढुलती हो। सत्साधु वही होता है, जो इस पश्चिम रूपी आत्मा से ही अपने शरीर को ढंके पश्चिम रूपी आत्मा के वस्त्र पहिने। और आत्मा के शुद्ध स्वरूपका पल्ला पकड़ कर ही सदैव स्वरूपाचरण चारित्र में चलता रहे। उसका पीछा कभी भी न छोड़े।

पच्छेइ अप्पु अप्पं, वर दंसन न्नान चरन पिच्छेई।
पिच्छेइ मोक्खमग्गं, न्नान सहावेन अम्बरं पिच्छं ॥४१५॥

साधु वही जो आतमदर्शी, पश्चिम दिशि को जाने।
साधु वही जो रत्नत्रय-सी, निधियों को पहिचाने।
साधु वही जो मोक्षमार्ग का, होवे निर्मल ज्ञाता।
साधु वही जिसके अंगों पर, आतम पट फहराता॥

सत्साधु वही होता है जो आत्मदर्शी हो—पश्चिम दिशा को पहिचानने वाला हो—रत्नत्रय का पूर्ण ज्ञाता हो—मोक्षमार्ग पर चलने वाला और पश्चिम दिशा रूपी आत्मा के वस्त्र पहिनने वाला हो।

वाइवं दिसि उत्तं, विगतं रूवेन अविगत ममलं ।
विगतं संसार सुभावं, अविगत रूवेन सुद्ध सहकारं ॥४१६॥

रहते हैं सत्साधु कि उस वायव्य दिशा के धारी ।
बजती है जिसमें आतम की, शहनाई सुखकारी ॥
है वायव्य वही बस जिसमें, भव के बंध न भाईं ।
दिखाती है नित प्रति बस जिसमें आतम की परछाईं ॥

निर्ग्रन्थ साधु उस वायव्य दिशा के धारी होते हैं, जिसमें आत्मा की प्रतिक्षण ध्वनि सुनाई देती है और जिसमें कर्मों के कोई बंधन नहीं हैं। वह आत्मा के अनहदनाद को सदैव ही श्रवण करने वाला होता है । और उस नाद को अपनी आनन्द की बन्शी में उसके सुर ताल को मिलाते हुए बजाया करता है । योगियों ने जो अंतर में १० प्रकार के वाद्यों की अनुभूति की है उनका वह मर्मी होता है ।

अविगत परमानन्दं, विगतं संसार सरनि सहकारं ।
अविगत रूवे रूवं, अविगत परम केवलं ज्ञानं ॥४१७॥

है वायव्य वही रे जिसमें, परमानन्द अगम हो ।
मिलता हो जिस थल न भयावह, भव का भ्रामक भ्रम हो ॥
है वायव्य वही बस जिसमें, आतम नाद सुनाये ।
पग पग पर जिसमें केवल का, शुभ्र प्रकाश दिखायें ॥

वायव्य दिशा वह होती है, जहां आनन्द हो—परमानन्द हो, जिस ठौर संसार का भय न हो । वायव्य वही है जिसमें आतम का कन कन में नाद सुनाये, केवल ज्ञान का जहां पग पग में शुभ्र प्रकाश दिखलाये ।

उत्तर दिसि उवएसं, वर दंसन ज्ञान चरन तव सुद्धं ।
उत्तर गुनानि धरनं, अप्पा परमप्प निम्मलं विमलं ॥४१८॥

होते हैं निर्ग्रन्थ साधु उस, उत्तर दिशि के धारी ।
जिसमें दर्शन, ज्ञान, चरन, तप रहते हैं सुखकारी ॥
उत्तरगुण से जगमग जगमग, करते जिसके कण हैं ।
जिस थल आतम परमातम की, बस सुन पड़ती धुन है ॥

निर्ग्रन्थ साधु उस उत्तर दिशा के धारी होते हैं, जिसमें दर्शन, ज्ञान, आचरण और तप नित्यप्रति क्रीड़ा करते हैं। जहां उत्तर गुण सदैव गुंजन किया करते हैं और आत्मा ही परमात्मा है, जहाँ पर प्रतिक्षण यही मंत्र सुनाया करता है। चार आराधना ही बस उसके प्राण होते हैं, और इन्हीं को वह अपने उत्तरगुण या उत्तरदायित्व गुण मानता है।

उत्तर गुन संजुत्तं, मय मिच्छात भाव परिचत्तं ।
उत्तर ऊर्ध सहावं, षय उवसम स्रेनि उत्तरं सुद्धं ॥४१९॥

होते जो निर्ग्रन्थ श्रमणजन, उत्तरपट के धारी ।
राग द्वेष मद मान मलों के होते वे परिहारी ॥
आतम के ही चिर स्वभाव में, करते वे उजियाला ।
उपशम हों या क्षपक कि सब में, पीते आतम प्याला ॥

जो दिगम्बर साधु उत्तरीय वस्त्र के धारी होते हैं, वे रागद्वेष, मदमान आदि दोषों के पूर्ण त्यागी होते हैं। वे आत्मा के चिरस्वभाव में ही नित्य प्रति रमण करते हैं और उपशम या क्षपक दोनों श्रेणियों में सदैव आतम-रस का प्याला ही पीते रहते हैं।

उत्तर दिसि ऊर्ध सहावं, अवगाहन गुन धरन्ति साहूनं ।
उत्तर खिपनक रूवं, अम्बर शुद्धं च ज्ञान सहकारं ॥४२०॥

आतम सा ही उत्तर का है ऊर्ध्व स्वभाव निराला ।
करते हैं नित साधु उसी में अवगाहन मतवाला ॥
आतम के ही तुल्य कि देता, उत्तर ज्ञान गहन है ।
उत्तरीय पट धारण करता, यों निर्ग्रन्थ श्रमण है ॥

उत्तर दिशा का स्वभाव आत्मा के समान ही ऊर्ध्व रहता है, इससे साधुजन नित्यप्रति उसके स्वभाव में ही स्नान किया करते हैं। उत्तर दिशा के गुण आत्मा के समान ही महान होते हैं, अतः साधु हमेशा उत्तर दिशा के ही पट धारण करते हैं।

ईशान दिसि उत्तएसं, ईसंति लोय मत्त सुपएसं ।
ईसं इष्ट संजोयं, अनिष्टरूवं च सयल तिक्तं च ॥४२१॥

होते हैं सत्साधु कि उस, ईशान दिशा के धारी ।
करती जो नित आत्ममनन की हो इच्छा सुखकारी ॥
इष्ट पदों का आयोजन ही, जिसका ध्येय विमल है ।
और अनिष्टों से जो रखती, ममता नेक न पल है ॥

सत्साधु ईशान दिशा के धारी होते हैं। ईशान दिशा वह होती है जहां पर नित्य आत्मा का ही मनन और चिन्तवन होता है। इष्टपदों का संयोग कराना ही जिसका निर्मल ध्येय होता है और जो हमेशा अनिष्टों से वियोग कराती रहती है।

इर्या पंथ निवेदं, ईर्य्या इत्यादि समिदि संजुत्तं ।
इष्टं च इष्टरूवं, ज्ञान सहावेन ईसंतियलोयं ॥४२२॥

******

रागद्वेष से रहित मुक्ति का, हो जिस थल उजियाला ।
छल छल करता हो कि जहां नित, पंच समिति का प्याला ॥
सोऽहं की ध्वनि जिसके जल, थल अंबर में मंडराये ।
आतम निधि से पूरित वह ही, दिक ईशान कहाये ॥

******

जहां पर रागद्वेष से रहित मुक्ति का शुभ्र प्रकाश हो; पंच समितियों का जहां पुण्य सम्मेलन हो, नित्य प्रति जहाँ सोऽहं की ध्वनि सुनाये और आत्मा की अमूल्य निधि से जो पूरित हो, वही ईशान दिशा कहलाती है ।

इष्टं सुद्ध सहावं, असुद्धपरिनाम सयल तिक्तं च ।
ईसं तिलोय ईसं, ईसं अंबर विसुद्ध सहकारं ॥४२३॥

******

जिनको आतम राम, कि तन मन धन से भी प्यारा है ।
अशुभ अशुचि परिणाम दलों से जो सब विधि न्यारा है ॥
सहज शुद्ध ईशान दिशा-से, वस्त्रों के जो धारी ।
वे ही होते हैं त्रिभुवन के पति, निर्ग्रन्थ सुखारी ॥

******

जिनको आत्मा में अगाध प्रीति है, अशुचि परिणामों से जो सदा दूर रहते हैं और जो ईशान दिशा के धारी होते हैं, वही संसार में निर्ग्रन्थ साधु कहलाते हैं ।

ऊर्धं दिसा सा उत्तं, ऊर्धं स सहाव निम्मलं सुद्धं ।
ऊर्धं ऊर्धं सरूवं, ऊर्ध ज्ञानं पि केवलं सुद्धं ॥४२४॥

******

रहते हैं निग्रंथ श्रमण उस, ऊर्ध्व दिशा के धारी ।
बसता है जिस ऊर्ध्व दिशा में, ऊर्ध्व स्वभाव सुखारी ॥
ऊर्ध्व दिशा प्रत्यक्ष मुक्ति है, ऊर्ध्व परम केवल है ।
ऊर्ध्व दिशा का वस्त्र पहिनता, यों निग्रंथ विमल है ॥

******

निर्ग्रन्थ साधु उस ऊर्ध्व दिशा के धारी होते हैं, जिसमें स्वयं ऊर्ध्व स्वभाव रमण करता है । ऊर्ध्व स्वभाव क्या है—स्वयं मुक्ति का रूप-आगम अगोचर केवलज्ञान ! निर्ग्रन्थ साधु उसी ऊर्ध्व दिशा के धारी होते हैं ।

*

सुद्धं च भाव, सुद्धं, असुद्ध परिनाम सयल तित्कं च ।
सुद्धं जिन उत्तएसं, ऊर्धं अम्बर विज्ञान सहकारं ॥४२५॥

******

ऊर्ध्व दिशा का वस्त्र पहिनते, जो निर्ग्रन्थ निराले ।
पीते हैं वे शुद्ध भाव के, ही बस नित प्रति प्याले ॥
सपनों तक में मलिन भाव के, पास न वे जाते हैं ।
ऊर्ध्व दिशा के वस्त्र पहिन वे, आतम को ध्याते हैं ॥

******

जो साधु ऊर्ध्व दिशा के वस्त्र धारण करते हैं, वे सदा मुक्ति के ही प्याले पीते हैं । वे स्वप्न तक में मलिन भावों के पास नहीं जाते हैं । आतम का मनन और चिन्तवन करते हुए, वे सदा ऊर्ध्व वस्त्र ही पहनते हैं ।

अधं दिसि उवएसं, ज्ञानं ध्यानं च दिष्टि सहभावं ।
अधं ऊर्ध सहावं, अप्पा परमप्प त्रिगत रूवेन ॥४२६॥

++++++

होते हैं निर्ग्रन्थ साधु उस, अधोदिशा के धारी ।
बसते हैं जिस दिशि में दर्शन, ज्ञान, ध्यान सुखकारी ॥
जैसे आतम परमातम है, परमातम आतम है ।
ऊर्ध्व अधो है और अधो ही तैसे ऊर्ध्व अगम है ॥

++++++

नग्रन्थ साधु उस अधोदिशा के धारी होते हैं जिसमें दर्शन, ज्ञान और आचरण का निवास है । जिस प्रकार आत्मा परमात्मा है और परमात्मा शुद्ध आत्मा है, उसी प्रकार ऊर्ध्व दिशा ही अधो दिशा है और अधो दिशा ही परम ध्रुव ऊर्ध्व दिशा है ।

✱

ॐ वंकारं ह्रियंकारं, श्रियांकारं ति अर्थं सुद्धं च ।
पंच स्थान संयुत्तं, सम्मत्तं सुद्ध समय सर्वज्ञं ॥४२७॥

++++++

ओम् ह्री से और श्रीं से मंडित जो दिग् प्यारी ।
वह कि दिशा बस एक अधो है, कहते जिन हितकारी ॥
पंच परम प्रभु, रत्नत्रय और समकित आतम राई ।
बसते हैं जिस ठौर अधोदिग्, वह हो बस सुखदाई ॥

++++++

ओम् ह्रीं श्री से जो दिशा मण्डित है, वह केवल अधो दिशा है । इसी अधो दिशा में पञ्चपरमेष्ठी बसते हैं, इसी में रत्नत्रय का निवास है और इसी में शुद्धात्मा का परम प्रकाश है । ऊपर नहीं, भीतर आत्मा की तह में ही पञ्चपरमेष्ठी का और रत्नत्रय का वास है ।

दिसि अम्बर सं सुद्धं, दिगम्बर ज्ञान ज्ञान सहकारं ।
अम्बर दिग् दिष्टं च, ज्ञान सहावेन अम्बरं भनियं ॥४२८॥

******

वे ही हैं शुभ वस्त्र, वही हैं और दिशायें प्यारी ।
निर्ग्रन्थों के ज्ञान ध्यान में, होतीं जो सहकारी ॥
आंखों को जो सुख देते हैं, वे अम्बर न कहाते ।
अम्बर वे हो, ज्ञान ध्यान का, जो अम्बार बढ़ाते ॥

******

वे ही शुभ वस्त्र हैं, और वे ही सुखकारी दिशायें हैं, जो निर्ग्रन्थ साधुओं को उनके ज्ञान-ध्यान में सहकारी हों । जो आंखों को सुख दें, वे वास्तव में 'अम्बर' नहीं हैं, 'अम्बर' वास्तव में वे होते हैं, जो ज्ञान-ध्यान का अम्बार लगा दें, ज्ञान-ध्यान की अवधि बढ़ा दें । उनको निर्मल से निर्मलतम बना दें ।

*

निःश्चेल सुद्ध सुद्धं, अम्बर सुद्धं च निम्मलं विमलं ।
ममलं ममल सहित्तं, ज्ञान महावेन सुद्ध वयधरनं ॥४२९॥

******

होते हैं निर्ग्रन्थ वही जो होते आत्मबिहारी ।
तन पर रखते हैं आतम का, जो अम्बर अविकारी ॥
संतों का होता है निर्मल, ज्ञान स्वभाव सुहाई ।
क्योंकि ज्ञान में रमना ही है, निश्चय से व्रत भाई ॥

******

निर्ग्रन्थ साधु वही होते है, जो नित्यप्रति आत्मा में रमण करते हैं और आत्मा का सुहावना वस्त्र पहिनते हैं । संतों का स्वभाव ज्ञान-स्वरूप ही होता है, क्योंकि ज्ञान स्वभाव में रमना ही वास्तव में व्रत होता है ।

—: अंतरंग व बहिरङ्ग परिग्रह :—

ग्रन्थं सहाव उत्तं, जं ग्रहनं असुद्ध भाव परिनामं ।
ग्रन्थं विमुक्त तिविहं, कम्मानं मुक सरनि संसारे ॥४३०॥

✦✦✦✦✦

कहते निर्ग्रन्थ उसे ही ग्रंथ-परिग्रह भाई ।
बनते हैं जिसकी संगत से भाव मलिन दुखदाई ॥
ग्रंथमुक्त निर्ग्रंथ कहाते, निर्ग्रन्थी वे जन हैं ।
कर्म ध्वंश कर जीते जिनने, जीवन और मरण हैं ॥

✦✦✦✦✦

ग्रन्थ, ग्रन्थ या परिग्रह उसे ही कहते हैं जिसकी संगति से परिणाम मलिन हो जाते हैं। और इस ग्रन्थ की फांस से निर्मुक्त निर्ग्रंथ साधु वही कहलाते हैं जो कर्मों का नाश कर जीवन और मरण पर विजय प्राप्त कर लेते हैं।

✱

वाहिज भितर ग्रन्थाः, मुका संसार सरनि ववहारे ।
मुक राग कषायं, मुक पुग्गल सहाव सम्बन्धं ॥४३१॥

✦✦✦✦✦

अन्तर बाहर दोनों में हैं, जितनी गांठे भाई ।
जो उन सब को तोड़ बहा दे, वह निर्ग्रन्थ सुहाई ॥
रागद्वेष, पुद्गल से, जग से, तोड़े जिनने नाते ।
वे ही बस निर्ग्रंथ दिगम्बर, साधु परम कहलाते ॥

✦✦✦✦✦

अन्तर और बाहर दोनों में जितनी गांठें हैं, जितने भी परिग्रह हैं, उन सब परिग्रहों को जो तृण के समान तोड़ बहा दे, वही निर्ग्रन्थ साधु कहलाता है। या दूसरे शब्दों में जो राग, द्वेष, पुद्गल और संसार से अपना नाता तोड़ दे, वही दिगम्बर साधु कहलाता है।

सिंघासन ग्रह छित्तं, जानहि सभाव असुह परिनामं ।
पुग्गल सहाव रूवं, ज्ञान सहावेन तिक्त संसारे ॥४३२॥

सिंहासन, गृह, महल, कुसंगति, ये सब बीज वे काले ।
अशुभ भाव के भरते रहते, जो निशि वासर प्याले ॥
पंचयुक्त निर्ग्रन्थों ने यह, जाना औ पहिचाना ।
और कि उनने तोड़ दिया बस, जग का ताना बाना ॥

सिंहासन, गृह, महल, कुसंगति आदि वे परिग्रह हैं जो नित्यप्रति अशुभ भावों का भंडार भरा करते हैं । निर्ग्रन्थ साधुओं ने इस भेद को पा लिया और उन्होंने इन सब अनर्थों की जड़ उस संसार से ही नाता तोड़ दिया ।

सिंहासनं स उत्तं, चौ गई संसार आसनं सहसा ।
बंधं चौर्तिहि उत्तं, ज्ञानसहावेन आसनं मुक्तं ॥४३३॥

सिद्ध शिला को छोड़, कि जुटता जिस आसन से नाता ।
चौगति रूपी वह आसन हो, सिंहासन कहलाता ॥
ज्ञान रूप आसन तज पीना, कर्मों के कटु प्याले ।
कहते इसको हो सिंहासन, त्रिभुवन के उजियाले ॥

सिंहासन क्या है ? चतुर्गति रूपी वह आसन है जो मनुष्य को मर्कटवत् संसार में भ्रमण कराता है । ज्ञानरूपी आसन को छोड़कर, कर्मों के कडुए प्याले पीना, बस इसी क्रिया को सिंहासन पर बैठाना कहते हैं ।

आसन सहाव सहियं, आस्रवं कम्मं च पुन्यं पावं च ।
आस्रवं द्रव्य कम्मं, ज्ञानबलेन आसनं मुक्कं ॥४३४॥

सिंहासन है वह आसन, श्री जिन प्रभु कहते भाई ।
करता है जो पाप पुण्य का आश्रव नित सुखदाई ॥
इससे जो निर्ग्रंथ साधु हैं, त्रिभुवन के सुखदाता ।
आसन सिंहासन से रखते रंच नहीं वे नाता ॥

सिंहासन उस आसन को कहते हैं जो पाप और पुण्य का नित्यप्रति आस्रव किया करता है । इससे जो भेदविज्ञान के ज्ञाता निर्ग्रन्थ साधु होते हैं, वे सिंहासन से बिल्कुल नाता नहीं रखते ।

✱

ग्रहनं संसार सुभावं, दुविहि कुज्ञान ग्रहनं उत्पन्नं ।
पुग्गल सहाव ग्रहनं, तिक्तंति मन वयन काय संसुद्धं ॥४३५॥

ग्रह उसको कहते हैं जिसका, ग्रहण स्वभाव हो भाई ।
मिथ्या मति, श्रुत-सी करता हो जो कुज्ञान कमाई ॥
जितने भी पुद्‌गल हैं जग में, सब ग्रह से ग्राही हैं ।
तज देते हैं इससे ग्रह को, जिन—पथ के राही हैं ॥

ग्रह उसको कहते हैं, जिसका ग्रहण करना ही स्वभाव हो । और इस स्वभाव के परिणाम-स्वरूप जो मिथ्या मतिज्ञान और मिथ्या श्रुतज्ञान सी कमाई करता हो । जगत में जितने भी अचेतन पुद्गल हैं, "ग्रह" इन सबको अपनी ओर खींचता है । इससे निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु इस ग्रह को तिलांजलि दे देते हैं ।

उत्पाद्य विधि ग्रहन, संबंधं सरनिबंध मिचानं ।
ग्रहनं कम्म सहावं, ज्ञान सहावेन तिक्त ग्रहभेयं ॥४३६॥

संचित कर्मों का ग्रहना ही, ग्रहण स्वभाव है प्यारे ।
खुलते हैं इन ही कर्मों से, बंध जगत के द्वारे ॥
ग्रह की है जो गांठ, बढ़ाती वह कर्मों का डेरा ।
करते हैं निर्ग्रन्थ न इससे, ग्रह में रंच बसेरा ॥

संचित कर्मों का ग्रहण करना ही ग्रहणस्वभाव कहलाता है और इन ही कर्मों से संसार का किनारा बढ़ता है । ग्रह का जो परिग्रह है वह कर्मों का भण्डार बढ़ाता ही रहता है । अतः निर्ग्रन्थ साधु इस ग्रह परिग्रह से अपना नाता तोड़ लेते हैं ।

छेत्तं सहाव उत्तं, छेत्तं अनादि कम्म सद्भावं ।
चौगई गमन सहावं, असयनं सयन छेत परिनामं ॥४३७॥

क्षेत्र उसे कहते हैं जिसका, क्षेत्र अनादि निधन हो ।
कर्मों के ही तुल्य कि जिसकी, सत्ता पूर्ण गहन हो ॥
जागृति और सुषुप्ति कि जिसके, दोनों फल हों भाई ।
चारों गति में भ्रमता होवे, जो नित मर्कट नाईं ॥

क्षेत्र उसे कहते हैं जिसकी सीमा का आदि अन्त न हो, और कर्मों की सत्ता के समान ही जिसकी अखण्ड सत्ता हो । जागृति और सुषुप्ति ये दोनों जिसके फल हों, और जो संसार में मर्कट (बन्दर) की नाईं मनुष्य को भ्रमण कराता फिरे ।

छेत्तं उवनं उत्तं, छेत्तं संसार सरनि सद्भावं ।
छेत्तं भवनसहावं, ज्ञान सहावेन छेत्तं तिक्तंति ॥४३८॥

क्षेत्र कि वह है क्षेत्र सयाने, जो भव भव भरमाता ।
दिन दूनी औ रात चौगुनी, जो उत्पत्ति बढ़ाता ॥
होते जो नर निश्चय नय से, भेदज्ञान के ज्ञाता ।
क्षेत्रों के कटु जंजालों से, तज देते वे नाता ॥

क्षेत्र उसे कहते हैं, जो भव भव में भ्रमण कराता हो । और दिन दूनी तथा रात चौगुनी कर्मों की उत्पत्ति बढ़ाता हो । जो पुरुष भेद-विज्ञान के ज्ञाता होते हैं, वे इस क्षेत्र से अपना पूर्णतया संबंध विच्छेद कर लेते हैं ।

सुवरण भाव स उत्तं, सुरैयं अनृत अभाव अथिरनं ।
चपल सहाव सुवर्णं, तिक्तंति ज्ञान सुद्ध सहकारं ॥४३९॥

स्वर्ण नहीं उसको कहते जो, जगमग जगमग होता ।
केवल वह ही स्वर्ण कि जो बस, झूठे स्वप्न संजोता ॥
कहते जिसको स्वर्ण कि उसमें, रहती है चपलाई ।
तज देते हैं स्वर्ण परिग्रह, इससे श्री मुनिराई ॥

स्वर्ण उसे नहीं कहते जो जगमग जगमग चमका करता है, प्रत्युत स्वर्ण उसे कहते हैं जो झूठे स्वप्न दिखाता है और जिसका चंचल स्वभाव रहता है । भेदज्ञान के ज्ञाता निर्ग्रन्थ साधु इससे इस स्वर्ण से नाता तोड़ लेते हैं । अर्थात् सांसारिक स्वर्णिम स्वप्नों को वे नहीं देखते, नहीं विचारते ।

धन धान्य अभ्र पटलं, विनास रूवेन चेयना रहियं ।
अनृत असत्य सहियं, धन धान्य तिक्त सुद्ध सहकारं ॥४४०॥

नभ मंडल में रहता जैसे, दो क्षण अभ्र पटल है ।
वैसे ही धन धान्य परिग्रह रहता बस दो पल है ॥
अनृत असत् नश्वर स्वर, जिसमें, करते पग पग क्रन्दन ।
उन धन धान्यों का न परिग्रह, रखते मुनि जग वंदन ॥

जिस प्रकार आकाश में मेघ की घटायें दो क्षण रहती हैं, उसी प्रकार संसार का धन धान्य और परिग्रह भी नश्वर होता है । जिसमें नश्वरता, अचेतनता और असत्यता पग पग पर क्रन्दन करती है, उस धन धान्य आदि के परिग्रहों को विवेकी साधुजन पल भर में ही छोड़ देते हैं। और ऐसे ही साधु-मुनि जगत में वन्दनीय होते हैं ।

कुप्पं कुधर्म जुत्तं, अंधं अधुवं च अधुव स सहावं ।
अज्ञान मिच्छ सहियं, ज्ञान बलेन कुप्प तिक्तं च ॥४४१॥

वस्त्रों का जो धर्म कि वह बस, धर्म कुधर्म है भाई ।
उसमें जो विश्वास सयाने, वह धोखे की स्याही ॥
मिथ्या धागों से रहते हैं निर्मित वस्त्र कि सारे ।
वस्त्र परिग्रह से बसते हैं, साधु इसी से न्यारे ॥

वस्त्र पहिरने का धर्म, धर्म नहीं है । वास्तव में कुधर्म अंगों को ढकना है । जो इस धर्म में विश्वास करता है वह निश्चयनय से धोखे में ही फँसता है, क्योंकि वस्त्रों के एक एक धागे में अनृत, अचेत, पुद्गल का भाव रमण करता है । इससे इन वस्त्रों को मतिमान् साधु बिल्कुल ही त्याग देते हैं ।

भाजन मिथ्य सहावं, संसारे दुःखभाजनं उत्तं ।
भाजन विकह म उत्तं, भाजन तिक्तंति ज्ञान सहकारं ॥४४२॥

भाजन का मिथ्या स्वभाव है कहते श्री जिनराई ।
और इसी से दुख का भाजन कहलाता भव भाई ॥
चारों विकथाएं भी प्यारे, कहलातीं भाजन हैं ।
और इसी से तज देते सब, भाजन वीर श्रमण हैं ॥

भाजन जिसे कहते हैं उसका भी मिथ्या स्वभाव ही है और इसी से संसार दुख का भाजन कहलाता है। चारों विकथायें या खोटी चर्चायें भी भाजन ही कहलाती हैं और इसी से इन भाजनों को, वीर श्रमण तिलांजलि दे देते हैं।

दुपदं दुंबुद्धि जुत्तं, अज्ञानं ज्ञान सुद्धपद रहियं ।
दुपदं अनिष्ट दिष्टं, इष्ट विओय दुपद तिक्त च ॥४४३॥

दासी—दासों को कहते हैं दुपद परिग्रह भाई ।
निश्चय से दुर्बुद्धि मात्र पर है कि दुपद दुखदाई ।
आतम का जो अहित करें बस दुपद वही भविजन हैं ।
दुपद परिग्रह को तज देते, इससे वीर श्रमण हैं ॥

दासी दासों को दुपद परिग्रह कहते हैं, लेकिन निश्चयनय से ये दुपद नहीं किन्तु दुपद परिग्रह होते हैं। दुर्बुद्धिपूर्ण परिग्रह-दुपद परिग्रह वास्तव में उन परिग्रहों का नाम है जो आत्मा का अहित करते हैं। इससे निर्ग्रन्थ साधु इन दुपद-दुखदायक परिग्रहों से हाथ धो लेते हैं।

दुपदं दुर्मति जुत्तं, हिंसानंदी च दुर्बुधिं जुत्तं ।
दुपदं जिगोय भावं, ज्ञान सहावेन दुपद क्त च ॥४४४॥

दुर्मति से जो युक्त उन्हें ही, कहते दुपद सुजन हैं ।
हिंसानंदी हिंसा के ये, होते सब भाजन हैं ॥
दुपद भाव जितने हैं वे सब, नर्क—निगोद दिखाते ।
इससे ज्ञानी साधु दुपद के, संग न नेह लगाते ॥

जो दुर्मति से युक्त हों, ज्ञानीजन उन्हें ही दुपद परिग्रह कहते हैं । ये परिग्रह हिंसानंदी होते हैं । वास्तव में जितने भी हिंसानंदी या दुपद भाव हैं, वे सब ही दुपद परिग्रह होते हैं । अतः ज्ञानी साधु इन दुपद परिग्रहों को पूर्ण रूप से त्याग देते हैं, विभाव पद को त्याग देते हैं ।

चतुपद चौ गइ सहियं, चौगइ चौ कषाय संजुत्तं ।
घाय चवक्कय सहियं, चौविहि बंधं च बंध सहकारं ॥४४५॥

वे हैं चतुपद संग कि जिनके, चौगति का हो डेरा ।
चार कषायों का हो जिनमें शाश्वत रैन बसेरा ॥
चार घातिया कर्म कि जिनमें पल पल रूप दिखाते ।
और कर्म के बंध कि जिनमें, नित प्रति भार बढ़ाते ॥

चतुष्पद परिग्रह वे होते हैं, जो चतुर्गति के भण्डार हों । चारों कषायों के जो घर हों। जिनमें चारों घातिया कर्म अपना अस्तित्व लिये बैठे हों, और जहाँ कर्म के बन्ध नित्य प्रति अपना भार बढ़ाने में संलग्न हों ।

ठिदि अनुभाग स उत्तं, प्रकृति प्रदेश बंध सुह असुहं ।
चौपद बंध सहावं, ज्ञान बलेन चौपदं तिक्तं ॥४४६॥

******

स्थिति, अनुभाग प्रकृति और हैं, बंध प्रदेश वे काले ।
भरते रहते हैं कर्मों के जो निसिबासर प्याले ॥
होते जो निर्ग्रन्थ साधु हैं, धर्म-धुरा के धारी ।
चतु पद के बन जाते हैं वे, निश्चय से परिहारी ॥

******

स्थिति, अनुभाग, प्रकृति, प्रदेश बन्ध कर्मों का नित्य प्रति भण्डार भरा करते हैं । अतः निर्ग्रन्थ साधु, कर्मों के भण्डार इन चतुष्पद परिग्रहों को तृण के समान छोड़ देते हैं ।

*

जानस कुमय सहावं, कुश्रुति कुअवधि दिस्टि संचरनं ।
व्रत संजम तव उत्तं, ज्ञान विज्ञान जानसं तिक्तं ॥४४७॥

******

लौकिकनय से बाहन सारे, जानस कहलाते हैं ।
निश्चय से कुज्ञान कि पर सब, जानस में आते हैं ॥
इन कुज्ञानों सहित कि व्रत तप, सारे जानस भाई ।
तज देते निर्ग्रन्थ कि ऐसे, सब जानस दुखदाई ॥

******

व्यवहारनय से सारे वाहन जानस कहलाते हैं, लेकिन निश्चयनय से जितने भी कुज्ञान हैं, वे सब जानस की ही श्रेणियों में आते हैं । इतना ही नहीं, इन कुज्ञान सहित जो जप, तप, व्रत आदि साधनायें हैं, वे भी सब जानस ही हैं, इससे निस्पृह निर्ग्रन्थ साधु इन अथवा ऐसे सब जानसों से मुख मोड़ लेते हैं ।

वाहिज ग्रन्थ सुभावं, संसारे सर्रानि दुःख वीर्यमि ।
तिक्तंति साधु सुद्धं, ज्ञान बलेन कम्म विलयंती ॥४४८॥

निश्चय औ व्यवहार परिग्रह, जितने भी हैं भाई ।
भरते रहते इस दुखभाजन, जग की जो नित खाई ॥
होते जो निर्ग्रन्थ साधु जन, धर्म–धुरा के धारी ।
संग छोड़ सब वे हो जाते, कर्मों के परिहारी ॥

निश्चय से और व्यवहार से जितने भी परिग्रह हैं और जो इस संसार की खाई को और चौड़ा बनाया करते हैं, उन सबको धर्म–नीति के जानने वाले साधुगण बिल्कुल ही त्याग देते हैं।

आभिंतर ग्रन्थ स उत्तं, मनवयकायेन ग्रन्थ संवरनं ।
ग्रन्थ सहावं पिच्छदि, ज्ञान बलेन सयल तिक्तं च ॥४४९॥

मन, वच, काया से कर लेना अपना अंतर रागी ।
कहते अंतज संग इसी को, श्री जिनराज विरागी ॥
साधु समझते हैं, होते ये ग्रन्थ कि विष के प्याले ।
तोड़ बहा देते वे इससे, सब ग्रन्थों के जाले ॥

मन, वचन और तन से अपना हृदय रागद्वेषों से भर लेना, बस इसी को अंतरंग परिग्रह कहते हैं। निर्ग्रन्थ साधु इन परिग्रहों को पूर्ण दुखदाई समझते हैं, और इसी से वे इनसे निस्पृही बन जाते हैं।

मिच्छात वेवि कहियं, मिच्छातं समय मिच्छ संजुत्तं ।
कुज्ञान शल्य सहियं, मिथ्या तिक्तंति ज्ञान सहकारं ॥४५०॥

दो विधि के मिथ्यात्व, कि जो हैं, इस जग में दुखदाई ।
वे ही हैं मिथ्यात्व परिग्रह, कहते श्री जिनराई ॥
होते कुज्ञानों, शल्यों के ये मिथ्यात्व कि घर हैं ।
तज देते हैं साधु इन्हें वे, दिग् जिनके अम्बर हैं ॥

संसार में जो दो तरह के मिथ्यात्व हैं, वे ही वास्तव में मिथ्यात्व परिग्रह हैं । ये परिग्रह कुज्ञान और शल्यों के भण्डार होते हैं । अतः निर्ग्रन्थ साधु इन परिग्रहों को पूर्णरूप से तिलांजलि दे देते हैं ।

मिच्छा मिच्छ सद्दावं, जिनवयनं च लोपनं उत्तं ।
अनृत असत्य सहियं, अपरनं दुःखभाजनं मिथ्या ॥४५१॥

होता है मिथ्यात्व परिग्रह, पूरा मिथ्या भाई ।
अनृत, असत, दोनों को रहती, उसमें पुट दुखदाई ॥
करते जो श्री जिन वचनों का लोपन मूढ़ अधम हैं ।
बंधन कर मिथ्यात्व कि पाते वे नर दुःख अगम हैं ॥

जो मिथ्यात्व परिग्रह होता है, वह पूर्णरूप से दुखदाई होता है । जिसमें अनृत और अचेतपन दोनों अपनी झांकी दिखाया करते हैं । जो मूर्ख, जिन-वचनों का लोप करते हैं, वे इस मिथ्यात्व परिग्रह के ही भागी बनते हैं ।

मिथ्या असत्य उत्तं, अप्पा परमप्प भाव नहु विच्छे ।
प्रपंच विभ्रम सहियं, ज्ञान सहावेन मिच्छ तिक्तंति ॥४५२॥

++++++

कहते हैं मिथ्यात्व उसे ही, जिसमें सत्य नहीं हो ।
आतम परमातम सा जिसमें रंच न भाव कहीं हो ॥
विभ्रम, परपंचों की जिसमें, होवे गहरी खाई ।
ऐसे उस मिथ्यात्व संग को, तज देते मुनिराई ॥

++++++

मिथ्यात्व उसे कहते हैं जिसमें रंचमात्र भी सत्य नहीं हो और न जिसमें आत्मा परमात्मा का कहीं कथन हो । विभ्रम और प्रपंचों के झुण्ड जिसके चारों ओर मंडराते हों । ऐसे उस मिथ्यात्व परिग्रह से साधु पूर्ण विरक्त हो जाते हैं ।

✱

मिच्छा समय स उत्तं, समयं संजुत्त मिच्छ उवएसं ।
विश्वासन्ते मूढ़ा, निगोय वास च मिच्छ तिक्तन्ते ॥४५३॥

++++++

समकित के संग साथ जहाँ पर, मिथ्या मति भी आवे ।
जिनवाणी में वह ही बस, समकित मिथ्यात्व कहावे ॥
पाते नर्क निगोद कि ऐसे, मिथ्या मति के धारी ।
बनते हैं निग्रन्थ न इससे समकित मिथ्याधारी ॥

++++++

जहाँ सम्यक्त्व के साथ साथ मिथ्यात्व भी उदय में आता है, वहाँ सम्यक् मिथ्यात्व होता है, ऐसा जिनवाणी का कथन है । ऐसे समकित मिथ्यात्व के धारी नर्क या निगोद में जाकर ही शरण लेते हैं । अतः निर्ग्रन्थ साधु सम्यक् मिथ्यात्व में विचरण नहीं करते । भावार्थ-अपने सम्यक्त्व को मिथ्यात्व से नष्ट नहीं होने देते और उसे दूषित होने से बचाते रहते हैं ।

रागादि भाव कहियं, राग संबन्धं सरनि संसारे ।
रागं आरति पुन्यं, ज्ञान सहावेन राग विलयंती ॥४५४॥

मोह–कीच में पड़कर जग से, अपना राग बढ़ाना ।
जिनवानी में बस इस ही को, राग परिग्रह माना ॥
आर्तध्यान से पुण्य कमाना, यह भी राग ही ज्ञानी ।
तज देते हैं राग परिग्रह, साधु कि आतम ध्यानी ॥

मोह के कर्दम में फँसकर, जगत से नाता बढ़ाना, इसी को राग परिग्रह कहते हैं । आर्त ध्यान के द्वारा पुण्य कमाने को भी राग परिग्रह ही कहते हैं । ज्ञानी साधु इस राग परिग्रह को बिल्कुल ही छोड़ देते हैं ।

दोषं रौद्र सहावं, हिंसानंदो अनृत असत्य नंदओ ।
अबम्भ नन्दनन्दं, दोषं तिक्तंति ज्ञान सहकारं ॥४५५॥

रौद्र भाव का धारण करना, यह ही द्वेष है प्यारे ।
अनृत असत्य व हिंसा इसके तीन प्रमुख हैं द्वारे ॥
शील–भंग में रंजित होना, द्वेष यही भी भाई ।
तज देते यह द्वेष महामुनि, सूखे तृण की नाईं ॥

रौद्र ध्यान के धारण करने को ही द्वेष कहते हैं । इस रौद्र ध्यान के अनृत, असत्य व हिंसा ये तीन प्रमुख द्वार हैं । शील भंग करने में रुचि दिखलाने को भी द्वेष ही कहते हैं । निर्ग्रन्थ साधु इस द्वेष परिग्रह को तृणवत् छोड़ देते हैं ।

हांसि विकहा सुभावं, रागादि मिथ्या कषाय संजुत्तं ।
हिंसानंद सुभावं, हास्यं तिक्तंति ज्ञान उवएसं ॥४५६॥

विकथाओं में रत होकर जो, राग किया जाता है ।
ज्ञानी जीवों से बस वह ही हास्य कहा जाता है ॥
रहते हैं हिंसा कषाय से पूरित इसके प्याले ।
तज देते हैं हास्य कि इससे संत त्रिजग उजियाले ॥

विकथाओं में रत होकर, उनमें जो रस लिया जाता है, उसी को हास्य परिग्रह कहते हैं। इस हास्य परिग्रह में हिंसा की गहरी पुट रहती है, अतः मुनिराज इस हास्य परिग्रह से संबंध विच्छेद कर लेते है ।

हास्यं अबंभ रूवं, रति संसार सरनि ठिदिकरनं ।
आरति दुबुहि रूवं, ज्ञान बलेन तिक्त सब्बानं ॥४५७॥

हास्य न केवल हास निरा है, यह अब्रह्म है प्यारे ।
और कि रति, जो निर्मित करती, जग के अगम किनारे ॥
आर्तध्यानमय हास्य-संग का दुखदायक कन कन है ।
तज देते यों हास्य कि जिनका ज्ञान परम तम घन है ॥

हास्य केवल हास्य ही नहीं होता, इसमें ब्रह्मचर्य का ह्रास भी होता है, जिससे संसार की वृद्धि ही होती है, । आर्तध्यान मय इस परिग्रह का प्रत्येक कण दुख का भंडार है, अतः विवेकी साधु इस हास्य से दूर ही रहते हैं ।

अस्त्री अस्त्रित भावं, पुसह पूर्व सहकार मिच्छातं ।
नपुंसय गुनहीनं, ज्ञान सहावेन सयल तिक्तं च ॥४५८॥

✦✦✦✦✦✦

पुरुषों के प्रति काम भावना, स्त्री वेद कहाता ।
नारी के प्रति काम भाव, पुंवेद कि जाना जाता ॥
दोनों के प्रति काम, नपुंसक वेद कि कहलाता है ।
ज्ञानी इन तीनों ही वेदों पर, जय पा जाता है ॥

✦✦✦✦✦✦

पुरुषों के प्रति काम भावना स्त्रीवेद और स्त्री के प्रति काम भावना पुंवेद कहलाता है। जहाँ दोनों वर्गों के प्रति काम भावना रहती है, वहां नपुंसक वेद होता है। ज्ञानी पुरुष इन तीनों वेदों पर जय प्राप्त कर लेता है।

✿

कषायं एव एसं, चौगई संसार सरनि संजुत्तं ।
जहं जहं कम्म सहावं, तहं तहं कषाय रसिय मिच्छातं ॥४५९॥

✦✦✦✦✦✦

चारों गति में जो प्राणी को, मर्कट सा भटकाती ।
संसृति की जड़ सींच उसे जो, दृढ़ से सुदृढ़ बनाती ।
कर्मों के संग साथ नियम से रहता जिनका आगर ।
कहते हैं कि कषाय उन्हें ही करुणाश्री के सागर ॥

✦✦✦✦✦✦

जो मनुष्य को चारों गतियों में भ्रमण कराती हैं, संसार की जड़ को जो नित्य प्रति मजबूत बनाती रहती हैं तथा कर्मों का आस्रव करने में जो अपना उपमान नहीं रखतीं, श्री जिनेन्द्र देव उन्हें ही कषाय कहते हैं।

लोभं अनृतरूवं असत्य सहित जो मिथ्य ।
तं लोभं नहु पिच्छदि, जं लोभं दुःखकारणं सहियं ॥४६०॥

******

लोभ अनृत हैं और सत्य की इसमें रंच न छाया ।
दिखता जो आकर्षण इसमें, सब सपने की माया ॥
दुःखों का जो मूल, कि जिसका कन कन है दुखकारी ।
रहते ऐसे लोभ—पाश से, दूर श्रमण व्रत धारी ॥

******

लोभ कषाय अनृत है—झूठी है। इसमें जो आकर्षण दिखता है, वह सब सपने की माया है। यह दुःखों को मूल है, इससे ज्ञानी श्रावक सदा इस लोभ की पाश से अपने को बचाते रहते हैं।

*

लोभं पुन्य सहावं, असत्य रसियं मिथ्या ।
ज्ञान विना वय धरनं, तं लोभं तिक्त सहकारं ॥४६१॥

******

पुण्य-प्राप्ति का लोभ अनृत है, और असत् दुखकर है ।
अनृत, असत् इससे कि स्वयं ही, पुण्य अघों का घर है ॥
पुण्य प्राप्ति का लोभ—ज्ञान के बिन व्रत का है धरना ।
तज देते यह लोभ कि इससे, जिनको भव-जल तरना ॥

******

जो लोग पापानुबंधी पुण्य प्राप्ति करने का लोभ करते हैं वे भी केवल पापों की ही कमाई करते हैं, क्योंकि पापानुबंधी पुण्य स्वयं दुखों का घर है। ऐसे पुण्य प्राप्ति का लोभ करना ज्ञान के बिना व्रतों को धारण करने के समान है। इससे भव्यजन इस लोभ के फंदे में भूलकर भी नहीं फसते ।

कोहं कोहाग्नि उत्तं, कोहं थावर त्रस अभाव संजुत्तं ।
कोहं कम्म उवन्नं, तिविहं कम्मान वर्धनं कोहं ॥४६२॥

******

क्रोध परिग्रह क्रोध नहीं, पर क्रोध अग्नि कहलाता ।
त्रस थावर सारे जीवों को, यह धू धू कि जलाता ॥
क्रोध कि नाना भाँति भयावह, कर्मों को उपजाता ।
तीन भाँति के कर्म बांधकर, यह संसार बढ़ाता ॥

******

क्रोध परिग्रह क्रोधाग्नि कहलाता है, जो त्रस स्थावर सारे जीवों को धू धू अग्नि में जलाता रहता है । यह क्रोध नाना भांति के कर्मों को उपजाता है और त्रिविध कर्मों से आत्माओं को जकड़ कर, यह उन्हें नित्य प्रति संसार में भ्रमण कराया करता है ।

*

कोहं उवनं भावं, कोहं उत्पन्न मिच्छ सहकारं ।
कोहाग्नि अनृत रूवं, कोहं तिक्तंति ज्ञान सहकारं ॥४६३॥

******

क्रोध कि काजल से भी काले, भावों का आगर है ।
है जिसमें मिथ्यात्व हलाहल, क्रोध कि वह सागर है ॥
क्रोध अनृत है, क्रोध असत् है, क्रोध महादुखदाई ।
तज देते यह क्रोध परिग्रह, इस से श्री मुनिराई ॥

******

क्रोध अत्यंत भयानक भावों को उपजाने वाला है । यह वह प्याला है, जिसमें मिथ्यात्व रूपी हलाहल का वास रहता है । क्रोध अनृत है, अचेतन है, असत्य है और अनन्तानन्त दुखों का घर है, इससे ज्ञानी साधु इस क्रोध को पास भी नहीं आने देते ।

मानं असत्य रूपं, व्रततपक्रियं च गर्हियं सभावं ।
मानं च ज्ञान हीनं, मानं रागादि असुह तिक्तं च ॥४६४॥

******

मान असत् है, असत् कि जैसे रिमझिम रिम कि बदरिया ।
अहंभाव के कच्चे रंग में डूबो एक चुनरिया ॥
मान जहां है, ज्ञान वहां पर रखता रंच न डेरा ।
करते हैं निर्ग्रन्थ न इससे मन में मान-बसेरा ॥

******

मान कषाय भी बिलकुल झूठी कषाय है, जिसमें अहंभाव की मिथ्या पुट भरी रहती है। जहां पर मान रहता है, वहाँ ज्ञान का बसेरा नहीं रहता । अतः निर्ग्रन्थ साधु इस मान को अपने हृदय में बिलकुल शरण नहीं देते ।

*

मानं पुग्गलरूवं, गलंति पूरयंति भाव सदुभावं ।
मानं अनृतरूवं ज्ञान सहावेन मान तिक्तं च ॥४६५॥

******

मान निरा पुद्गल है, इसमें कोई तथ्य नहीं है ।
छूता है आकाश जहां यह, छूता भूमि वहीं है ॥
मान असत है, मान अनृत है, मान दुखों का प्याला ।
तज देते यह मान कि पोते, जो आतमरस—प्याला ॥

******

मान निरा पुद्गल है-निरी अचेत न वस्तु है । कभी इसका आसन आकाश में रहता है, तो कभी यह धरती पर लोटता है । यह मान पुद्गल अचेतन होने के साथ ही साथ अनन्तानन्त दुखों का घर भी है, अतः आत्मध्यानी साधु इस मान को तृणवत् तोड़ देते हैं ।

माया अनृत-रूपं, विषयं अहिलास माय उत्पन्नं ।
माया बधंति सत्यं, माया मिथ्यात रूत सहकारं ॥४६६॥

माया भी है अनृत, विषय की इच्छाओं से पूरी ।
सत्य देवता से रखती है जो कि निरन्तर दूरी ॥
सत्या-सत्य न लखने देते, इसके दुर्दम फंदे ।
रहते माया रिक्त कि इससे परमातम के बंदे ॥

माया भी एक अनृत कषाय है, जिसमें विषय की भावनायें रमण किया करती हैं । सत्य से यह कोसों दूर रहती है । और सत्य क्या है और असत्य क्या है, यह इस बात का निर्णय ही नहीं होने देती, अतः विवेकी आत्मार्थी पुरुष इस माया के जाल में भूलकर भी नहीं फंसते ।

माया परिनाम बन्धं, परिनामं असत्य अनृतं दिट्ठं ।
माया-संसार मइमो, माया त्यजंति ज्ञान सहकारं ॥४६७॥

माया का परिणाम कि क्या है, रे भव भव का बंधन ।
बंधन जिसमें पड़कर मानव, करता भीषण क्रंदन ॥
यह माया संसारमयी है, अनृत असत दुखदायक ।
तज देते हैं नेह कि इससे, संत जगत के नायक ॥

मायाचारिता का क्या परिणाम होता है ? मनुष्य को इस दुष्टा के परिणामस्वरूप भव भव के कठिन दुख सहना पड़ते हैं । यह माया संसार की जड़ है, अनृत है, असत है और दुखों की सागर है, अतः निर्ग्रन्थ साधु इस माया को भयावह जान, इसे बिल्कुल ही छोड़ देते हैं ।

अभितर ग्रंथ स उत्त', संसारे सरनि तिक्त मोहंधं ।
ग्रंथं चौगई समयं, ज्ञान सहावेन ग्रंथ तिक्तंति ॥४६८॥

जितने भी ये ग्रंथ कि जिनके, अंतर से नाते हैं ।
और कि जो संसार—बेल को, पल पल धनपाते हैं ॥
चारों गति में जो मानव के, प्राणों को भटकाते ।
संत निरारंभो उन सबको, तृण से तोड़ बहाते ॥

संसार में भ्रमण कराने वाले जितने भी ये आभ्यन्तर और बाह्य परिग्रह हैं, निरारंभी और निष्परिग्रही साधु उन सबको तृणवत् तोड़ देते हैं।

बहिज भिंतर ग्रंथाः, मुक्का जे दुट्टठ कम्म संजुताः ।
तिक्तंति भव्य जनयाः, ज्ञान सहावेन ग्रंथ विमुक्कं ॥४६९॥

अंतर बाहर दोनों के हैं, जितने ग्रंथ कि काले ।
भरते हैं जो नित्य निरंतर, वसु कर्मों के प्याले ॥
भेदज्ञान की धारी होती, संतों की जो टोली ।
वह इन सारे ही संगों की, रच देती है होली ॥

जितने भी अंतरंग और बहिरंग परिग्रह हैं और जो नित्य प्रति अष्ट कर्मों के बंधनों से जन जन को जकड़ते रहते हैं, ज्ञानी साधुओं की टोली उन सबको सूखे तिनकों के समान छोड़ देती है ।

ग्रहनं जिनवरवयनं, ग्रहनं अप्प भाव संजुत्तं ।
ग्रहनं ति अर्थभावं, जायंतो जोयिजुव हो ॥४७०॥

करते हैं जो ग्रहण कि यदि कुछ, तो जिन बैन सुहाने ।
भरते हैं जो आत्ममनन से, हो बस नित्य खजाने ॥
रत्नत्रय ही एक कि जिनका, जग में धन है भारी ।
कहलाते निर्ग्रन्थ वही बस योगी हैं सुखकारी ॥

ग्रहण करने के नाम पर जो मात्र जिन वचनों का ग्रहण करते हैं और संचय करने के नाम पर नित्य प्रति आत्ममनन से ही अपने अंतर का कोष भरते हैं। रत्नत्रय ही जिनकी एक मात्र संपत्ति है, ऐसे जो जगत-हितकारी साधु होते हैं, जिनशासन में वही निर्ग्रन्थ साधु कहलाते हैं।

ग्रहनं दंसनं ज्ञानं, चरनं चारित्र ग्रहण दुभेयं ।
ग्रहनं ज्ञान सहाव, अप्पा सुद्धप्प ज्ञान सद्भावं ॥४७१॥

होते जो निर्ग्रन्थ साधुजन, निर्मल तप के धारी ।
दर्शन ज्ञानाचार कि होतीं, उनकी निधि सुखकारी ॥
आतम परमातम का होता, जो विज्ञान निराला ।
होता बस वह धन ही उनके अंतर का उजियाला ॥

जो निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु होते हैं, उनके दर्शन ज्ञान और आचरण यही तीन रत्न परम धन होते हैं। आतमा ही परमातमा है, इस मंत्र के वे निष्ठ पुजारी होते हैं और यही उनका मूल मंत्र होता है।

संमत्तं संग्रहनं, ज्ञानं पंचंमि भाव उवलब्धं ।
अप्पा परमप्पानं, ज्ञान सहावेन मुक्त संवरनं ॥४७२॥

******

होते हैं निर्ग्रन्थ साधु उस, समकित-मणि के धारी ।
कर देती है जो कि ज्ञान को, केवल ज्ञान सुखारी ॥
'आतम पर-आतम है' जिनका होता एक ही नारा ।
ज्ञान पंथ पर चढ़ छू लेते वे शिवपुर का तारा ॥

******

निर्ग्रन्थ दिगम्बर साधु उस सम्यक्त्व रत्न के धारी होते हैं, जो ज्ञान को, केवल ज्ञान में परिणित कर देता है। 'आतमा ही परमात्मा है' जिनका यह मूलमंत्र होता है, वे अवश्य ही ज्ञान मार्ग पर चढ़कर एक दिन मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं ।

*

वृततव संजम ग्रहनं ति अर्थं तीर्थंकारेन संसुद्धं ।
सुद्धं सुद्ध सहावं, सुद्धं ज्ञानंऽमि ज्ञान परमप्पा ॥४७३॥

******

होते हैं सत्साधु दिगम्बर, व्रत, तप, संयम धारी ।
देता है सम्यक्त्व कि उनमें, नित प्रति शोभा न्यारी ॥
होकर जग से पार कि वे फिर जग को पार लगाते ।
आतम में हो लीन कि वे पद परमातम को ध्याते ॥

******

जो दिगम्बर साधु होते हैं, वे सम्यक्त्व सहित जप, तप, व्रत, आदि क्रियाओं के धारी होते हैं। संसार सागर से पार होकर वे पुनः जगत को पार लगाते हैं और आत्मा में लीन होकर सदा परमात्मा पद को ध्याते हैं ।

पिच्छदि अप्प सरूवं, पिच्छदि नन्त दंसनं ममलं ।
ज्ञानं च ज्ञान ममलं, अप्पा परमप्प केवलं भावं ॥४७४॥

✦✦✦✦✦✦

होते हैं सत्साधु दिगम्बर, आतम पद के ज्ञाता ।
उनकी श्रद्धा में दर्शन का, सिन्धु अगम लहराता ॥
ज्ञानाश्रय ले वे आतम में, तन्मय हो जाते हैं ।
'आतम ही बस परमातम है', वे नित यह ध्याते हैं ॥

✦✦✦✦✦✦

दिगम्बर साधु आत्मा के परम मर्मज्ञ होते हैं। उनकी श्रद्धा में सम्यक्त्व का अथाह सागर लहराता रहता है। वे सदा आत्मा में ही तल्लीन रहा करते हैं और आत्मा ही परमात्मा है, यही उनका एक मूल मंत्र होता है ।

✹

—: पंच महाव्रत :—

महावयं व्रतग्रहनं ज्ञानमयो ज्ञान सुद्ध सभावं ।
ज्ञानेन ज्ञान सुद्धं, महावय सुद्ध धरंति साहूनं ॥४७५॥

✦✦✦✦✦✦

साधु ग्रहण करते हैं यदि कुछ तो कि महाव्रत ज्ञानो ।
होते हैं वे आतम जैसी, चिर संपति के ध्यानो ॥
ज्ञानमार्ग से शुद्ध ज्ञान का, वे अर्जन करते हैं ।
और महाव्रत के पालन में आगे पद धरते हैं ॥

✦✦✦✦✦✦

साधु ग्रहण के नाम पर महाव्रतों को ही ग्रहण करते हैं। आत्मा उनकी महान संपदा होती है। ज्ञानमार्ग पर चलते हुए, वे शुद्ध ज्ञान का ही अर्जन करते हैं और महाव्रत के मार्ग में अपने निरन्तर चरण बढ़ाते रहते हैं।

अप्पं अप्प सहावं, अप्प परमप्प ज्ञान संजुत्तं ।
चिंतंतो परमप्पय, अहिंसओ महावयं हुँती ॥४७६॥

******

"मैं आतम हूं, इस आतम से भिन्न स्वरूप न मेरा" ।
आतम पद से परमातम में, करना रैन बसेरा ॥
परम शुद्ध निर्मल भावों से, करना प्रेम सगाई ।
संतों का यह हो कि अहिंसा शुद्ध महाव्रत भाई ॥

******

मैं आत्मा हूं और आत्मा से मेरा भिन्न स्वभाव नहीं है, यह अनुभव करते हुए परमात्मा में लीन हो जाना और अपने शुद्ध तथा निर्मल भाव बनाये रखना, साधुओं का यही अहिंसा महाव्रत होता है ।

*

अनृत मयं न दिष्टदि, ऋतं जानंति अप्प सद्भावं ।
सून्यं ज्ञान संजुत्तं, ऋतं ससहाव महावयं हुँती ॥४७७॥

******

दिखती है अज्ञान तिमिर की, रे जिस ठौर न छाया ।
सत्य जहां केवल आतम को, अलख अगोचर काया ॥
बजती है जिस ठौर ध्यान की निर्विकल्प शहनाई ।
संतों का होता कि वहीं है, सत्य महाव्रत भाई ॥

******

जहां पर अज्ञान की रेख भी नहीं दिखाई देती तथा जहाँ आत्मा को ही संसार में सर्वश्रेष्ठ सत्य समझा जाता है, ध्यान और समाधि के जहाँ चारों ओर पुण्य दर्शन होते हैं, साधुओं का सत्य महाव्रत बस उसी ठौर होता है ।

स्तेयं न हु दिट्ठदि, जिन उत्तं उत्त सव्वहा सव्वं।
जिनरूवं जिन वयनं, ज्ञान सहावेन ज्ञान उवएसं ॥४७८॥

******

दिखतो है जिस ठौर न कोई, चोरी की परछाईं।
सुन पड़ती जिस ठौर कि जिन के वचनों की ही झाईं॥
जिन का वेष, वचन जिन के ही हों, जिस थल सुखदाई।
गिनते हैं अस्तेय महाव्रत, साधु वही प्रिय भाई॥

******

जहां पर चोरी का नाम भी नहीं सुन पड़ता; जहां केवल जिनके मधुर वचन ही सुनाई देते हैं तथा जहां वेष भी केवल जिनेन्द्र देव द्वारा प्रतिपादित ही दृष्टिगोचर होता है, साधुओं का वहीं अस्तेय महाव्रत होता है।

बंभं बंभ सरूवं, अबंभ भाव सयल दोस परिचित्तो।
अप्पा परमानन्दं, बंभवयं महावयं हुँती ॥४७९॥

******

ब्रह्मचर्य क्या है कि ब्रम्ह में, मन वच कम का खोना।
जितने भी अब्रह्म–भाव हैं, सबसे तन मन धोना॥
आतम में करते हैं जिस थल, क्रीड़ा श्री जिनराई।
संतों का होता कि वहीं बस शील महाव्रत भाई॥

******

ब्रह्म में मन, वच, कर्म से लीन हो जाना तथा सारे अब्रह्म भावों को हृदय से दूर कर देना, इसी का नाम ब्रह्मचर्य व्रत होता है। जहाँ पर ब्रह्म में निशिवासर परमात्मा क्रीड़ा करते हैं, वही साधुओं का ब्रह्मचर्य महाव्रत होता है।

परपुद्गल परमानं, पुग्गल स सहाव सयलदोस परिचत्तो।
अप्पा परमप्प रूवं, पुग्गल सहकार दोस परमानं ॥४८०॥

आतम के अतिरिक्त जहां पर, सब पर हैं पुद्गल हैं।
पुद्गल से उत्पन्न जहां पर, त्याज्य विभाव सकल हैं॥
भिन्न जहां पुद्गल से गिनते, यह आतम सुखदाई।
संतो का होता कि वहीं है, संग-त्याग-व्रत भाई॥

जहां पर आतम के अतिरिक्त, सारे पदार्थ पर हैं और पुद्गल से उत्पन्न होने के नाते जहां वे परिग्रह स्वरूप होने के कारण त्याज्य हैं, वहीं ही संतों का परिग्रह परिमाण व्रत होता है।

पंचमहाव्वय सुद्धं, अप्पा अप्पेन अप्प ससरूवं।
ज्ञानं अवहि संजुत्तं, मनपर्यय केवलं भावं ॥४८१॥

आतम को हो बोध जहां यह, 'आतम परमातम है'।
पंचमहाव्रत का कि वहीं बस तीरथ है संगम है॥
हो अनुभव जिस ठौर कि आतम, पंच ज्ञान हैं धारो।
पंचमहाव्रत समझो रमते, उस ही ठौर सुखारो॥

जहां पर आत्मा को यह बोध हो जाये कि हमारी आत्मा ही परमात्मा है, वहीं सारे महाव्रत हैं और वहीं तीर्थ हैं। दूसरे शब्दों में, जहां आत्मा को यह अनुभव में आ जावे कि हमारा आत्मा पंच ज्ञान का धारी है,—केवल ज्ञान इसका जन्मसिद्ध अधिकार है—वहीं पंच महाव्रत की प्राप्ति हो जाती है।

—: तीन गुणव्रत :—

दिग्व्रत सुद्धं सुद्धं, दिगम्बर परिनाम सुद्ध ससहावं ।
ज्ञानं ज्ञान सरूवं, दिग्व्रत महावयं हुँती ॥४८२॥

✦✦✦✦✦✦

बाहिर होवे वेष दिगम्बर, पूर्ण दिगम्बर बाना ।
अन्तर में हो निर्मलता का, पावन ताना बाना ॥
ध्यान रूप में ज्ञान जहाँ पर, लहर लहर लहराता ।
निर्ग्रन्थों का एक वहीं बस, दिग्व्रत है कहलाता ॥

✦✦✦✦✦✦

बाहिर तो जहां पर पूर्ण दिगम्बर वेष हो तथा अंतरंग में अत्यंत निर्मल परिणाम हों, ज्ञान जहां पर ध्यान में नित्य प्रति लहरें लेता हो, वहीं साधुओं का दिग्व्रत होता है।

देसो सुद्ध सहाओ, उवएसनं पि दंसनं ज्ञानं ।
देसो उद्देस सुद्धं, देसव्रतं महावयं हुँती ॥४८३॥

✦✦✦✦✦✦

"मेरा आतमराम जहाँ पर, करता रैन बसेरा ।
वह कोई परक्षेत्र नहीं है, वह स्वभाव है मेरा ॥
ज्ञान और दर्शन से पूरित, मेरा आतम राई" ।
हो अनुभव जिस ठौर वहां हो, पुण्य देश—व्रत भाई ॥

✦✦✦✦✦✦

मेरा आतमराम जहाँ पर रमण करता है, वह कोई अन्य क्षेत्र नहीं है—मेरा ही स्वभाव है। मेरा स्वभाव दर्शन और ज्ञान से परिपूर्ण है। जहाँ यह प्रत्यक्ष अनुभव में आवे, वहीं साधुओं का देशव्रत होता है।

अन्नान अर्थ न दिट्ठीदि, ज्ञान सहावेन भव्य उवसंतो ।
कीलै अप्प सहावं, अप्पा परमप्पओ हवई ॥४८४॥

******

अनरथ या अज्ञान न जिस थल, भूले से दिखलाता ।
और ज्ञान का सम्बल है जो, चिर सुख शांति जगाता ॥
निज स्वभाव में कीलित करदे, जो निज मन को भाई ।
होता अनरथदंड महाव्रत बस वह ही सुखदाई ॥

******

जहां पर अज्ञान या अनर्थ भूले से भी नहीं दिखलाई पड़ता, सर्वत्र जहां ज्ञान रमण करता है तथा स्वभाव के सिवा, विभाव या परणतियां जहाँ दृष्टिगोचर ही नहीं होतीं, वहीं संतों का अनर्थदंड व्रत होता है।

■

मिच्छा भावे विरदो, विरदो संसार सरनि ववहारे ।
अज्ञान अर्थ विरदो, सुरदो सुद्ध चेयना भाओ ॥४८५॥

******

अनृत और मिथ्याभावों से, जिनका रिक्त बसेरा ।
भव भ्रामक व्यापार न देते, जिसको दुःख घनेरा ॥
कुज्ञानों को छोड़, सतत जो, रहता स्वात्म-मगन है ।
होता अनरथ-दंड-महाव्रत-धारी वह हो जन है ॥

******

जिसका हृदय अनृत या मिथ्याभावों से रिक्त रहता है, भव भ्रामक भाव जिसे संसार में भ्रमण नहीं कराते, कुमति को छोड़कर जो सदा निज स्वभाव में ही रमण करता है, वही सत्पुरुष अनर्थदंड महाव्रत का धारी होता है।

—: चार शिक्षावृत :—

शिष्यावय चत्वारि, सिष्या दिष्या च ज्ञान संजुत्तो ।
सुरदो चेयन भाओ, सिष्यावय उत्पसनं तंपी ॥४८६॥

चार भांति के शिक्षाव्रत के, होते हैं जो धारी ।
होते हैं वे साधु कि शिक्षा, दीक्षा ज्ञान बिहारी ॥
शुद्ध अमल ध्रुव चेतन पद के, होते हैं वे वासी ।
और उन्हीं के हेतु कि होते, शिक्षावृत अविनाशी ॥

जो चार भांति के शिक्षा व्रतों के धारी होते हैं, वही साधु सतत शिक्षा, दीक्षा तथा ज्ञान में विहार करने वाले कहे जाते हैं। वे अमर ध्रुव चेतन पद में ही सदा क्रीड़ा किया करते हैं, और ऐसे ही पुरुष शिक्षा व्रत धारण करने के अधिकारी होते हैं।

भोग उपभोग पडिमा, अतिथि सुयं विभाग सलेहनावंतो ।
विज्ञानं जानंतो, सुद्ध सरूवं च ज्ञान संजुत्तो ॥४८७॥

भोग—त्याग, उपभोग-त्याग, दो पहिले वृत हैं भाई ।
अतिथि-सुयं सल्लेखन ये दो अंतिम वृत सुखदाई ॥
इन चारों ही शिक्षाव्रत पर जो हैं राह बनाते ।
वे होते, वे साधु, ज्ञान की जो नित दीप्ति जगाते ॥

शिक्षाव्रत ४ हैं। (१) भोग त्याग (२) उपभोग त्याग (३) अतिथि संविभाग (४) सल्लेखना। जो साधु इन शिक्षाव्रतों को जीवन में धारण करते हैं, वे निश्चय ही ज्ञान की प्रखर ज्योति अपने आत्म प्रदेश में जगाते हैं।

भोगो संसार मइओ, अनृत असत्य सहित जी मिथ्या ।
रागादि दोष त्रिषयं, तिक्तं च अभाव सिष्ययं भनियं ॥४८८॥

******

भोग अनृत हैं, भोग असत हैं, भोग निरे नश्वर हैं ।
ये चारों गति के भ्रामक हैं, ये रागों के घर हैं ॥
इन भोगों की फुलवारी को, तृण—सी तोड़ बहाना ।
बस इस ही को निश्चयनय से, भोग—त्याग—व्रत माना ॥

******

भोग अनृत हैं, असत हैं और नश्वरशील हैं । ये मनुष्यों को चारों गति में मर्कट के समान घुमाया करते हैं । इन भोगों की फुलवारी को तृण समान तोड़ देना, इसी को भोग त्याग महाव्रत की संज्ञा दी गई है ।

■

रागादिय उवन्नं, पुण्यं पावं च दुक्ख स सहावं ।
अन्नानं संतुट्ठं, भोगं सहकार सयल तिक्तं च ॥४८९॥

******

पुण्य कर्म से रागद्वेष की, होती सृष्टि है भाई ।
और पाप से पैदा होते, दुःख दुसह दुखदाई ॥
भोग कि इन दोनों का घर है, रे अज्ञान बसेरा ।
साधु न मन में रखते इससे, इन भोगों का डेरा ॥

******

पुण्य उदय के भोग से रागद्वेष की उत्पत्ति होती है और पाप करने से दुखों की सृष्टि का सर्जन होता है । भोग इन दोनों का भंडार है, अज्ञान का निधान है, अतः साधु पुरुष इस भोग को तिलांजलि दे देते हैं ।

भोगं जिनेहि उत्तं, सुद्धं भोगं च सयलदोस परिचत्तो ।
मतिज्ञानं संतुट्ठं, भोगं सुद्धं संसार सरनि विरदोय ॥४१०॥

******

श्री जिनने जो भोग बताया, वह, वह भोग है ज्ञानी ।
सारे दोषों के कर्दम से जिसको रिक्त कहानी ॥
भोग कि यह, वह आत्मभोग है, सुख संतुष्टि—प्रदाता ।
भोग कि ऐसा भोग, न मानव फिर इस भव में आता ॥

******

श्री जिनेन्द्र देव ने जो भोग बताया है, वह रागद्वेष पुण्य, पाप सब दोषों से रहित है। वह भोग आत्मभोग है जो सुख और सन्तोष की प्राप्ति तो कराता ही है साथ में मनुष्य को संसार में बार बार भटकने से भी बचाता है।

✱

आगम पुराण सुद्धं, अष्यर सुर विंजनस्य पद अर्थं ।
अप्प सरूव सुदिट्ठं, अप्पा परम सुद्ध संतुट्ठं ॥४११॥

******

जिसने आगम और कि जिसने पुण्य पुराण जगाये ।
उनके स्वर, व्यंजन, अक्षर, पद जिनके बीच समाये ॥
आतममय हो जिसने आतम परमातम पहिचाना ।
बस उसने ही आत्मभोग का, स्वाद मनोरम जाना ॥

******

आत्मभोग में क्या आनन्द है, इसको केवल वही ज्ञानी पुरुष जानता है जिसने समाधि जगाई हो, अनेकों शास्त्रों का अध्ययन किया हो तथा जिसके आत्मा और परमात्मा के बीच कोई भेदभाव की दीवार न खड़ी रह गई हो।

उवभोग दुट्ठ अनियं, संसारे सरनि साधनं नित्यं ।
मिथ्यातराग सहियं, कुज्ञान विषयचिंतनं तंपी ॥४९२॥

++++++

हैं उपभोग वही प्रिय भाई, जो संसार बढ़ावें ।
भव--जल में हम कैसे डूबें, जो यह युक्ति लगावें ॥
छाये हों मिथ्यात्व राग के, जिनमें घन कजरारे ।
धू धू धू जलते हों जिनमें, विषयों के अंगारे ॥

++++++

उपभोग उन्हें कहते हैं, जो संसार की खाई को और गहरी करें, हमें संसार के जाल में फंसायें, मिथ्यात्व तथा रागद्वेष के अन्धकार से जो पूर्ण हों तथा जिनमें अनेकों विषयों की नालियाँ बहती हों ।

जस्य मनस्य पमगो, तस्य परिनाम असुह सव्वे हीं ।
तिक्तंति सयल दोमं, ज्ञान सहावेन तिक्त उवभोगं ॥४९३॥

++++++

जिसका मन पंखों पर चढ़कर, त्रिभुवन में फिरता है ।
यह निश्चय है ऐसा प्राणी, भाव अशुभ धरता है ॥
इससे जो निर्ग्रंथ कि होते, ज्ञान-निकुंज—बिहारी ।
वे सपने तक में न निरखते, उपभोगों को क्यारी ॥

++++++

जिसका मन तीनों भुवन के चक्कर काटता है, संसार के विषय भोगों की फुलवारी निरखता है, वह प्राणी अशुभ भावों का धारी ही कहा जाता है, इससे निर्ग्रन्थ साधु इन उपभोगों की परछाईं तक नहीं देखते ।

जिन उत्तं उवभोगं, संसार सरनि तिक्त अन्यानं ।
अष्यर पदं च जानदि, अवयासं अप्प सुद्ध परमप्पा ॥४१४॥

जिन ने जो उपभोग कहे हैं, वे उपभोग हैं भाई ।
मनन करो तुम जिनवाणी के, अक्षर पद सुखदाई ॥
सच्चा यह उपभोग कि भाई, छोड़ो दुनियादारी ।
और कि आतम—परमातम से प्रीत लगाओ प्यारी ॥

श्री जिनेन्द्र देव ने जिनवाणी के अध्ययन करने को ही उपभोग की संज्ञा दी है। यही वास्तव में सच्चा उपभोग है। अतः जगत के प्रपंच छोड़कर अपने आत्मा से प्रीति लगाना चाहिए।

अवयास सुद्धं सुद्धं, दंसन ज्ञानेन सुद्ध चरनानि ।
चिंतंति भावं सुद्धं, उवभोगं च चेयनाभावं ॥४१५॥

जिसके उर में शुभ भावों का, बहता नित निर्झर है ।
और कि दर्शन, ज्ञान, चरण का अंतर जिसका घर है ।
परम शुद्ध निर्मल भावों में, जो विचरण करता है ।
अजर अमर उपभोग जगत में, बस वह नर धरता है ॥

जिसके मन में शुभ भावों का झरना बहता है; दर्शन, ज्ञान और आचरण से जिसका हृदय परिपूर्ण है तथा जो नित्यप्रति परम शुद्ध और निर्मल भावों में ही रमण करता है, वही सत्पुरुष अमर, ध्रुव और ज्ञानस्वरूप उपभोगों को धारण करता है।

अतिथि सुयं विभागं, मिथ्यामय रागदोस विरयंतो ।
अन्नानं न हु पिच्छे, सुद्ध सहावं च पिच्छए अप्पा ॥४९६॥

राग द्वेष से, कुज्ञानों से, कर अंतर—पट खाली ।
और कि सारे अज्ञानों की तोड़ किवड़ियें काली ॥
जो अपने आतम पाहुन की करता है पहुनाई ।
अतिथि सुयं शिक्षाव्रत वह ही, धरता है ध्रुव भाई ॥

जो रागद्वेष और कुज्ञानों के जालों को तोड़कर अपने आत्म—अतिथि की सेवा करता है, उसकी पहुनाई करता है, बस वही सच्चा अतिथि सुयं संविभाग शिक्षाव्रत का धारी होता है।

सुयं विभागं सुद्धं, अन्यो पुग्गल वियान अप्पानं ।
विगत सरूव सुद्धं, अप्पा परमप्पयं जानं ॥४९७॥

पुद्‌गल पर, पाहुन बस अपना आतम ही सुखदाई ।
और कि यह आतम—पाहुन ही है सच्चा जिनराई ॥
'आतम ही परमातम भाई, परमातम आतम है'
बस यह ही है अतिथि सुयं व्रत, कहता जिन आगम है ॥

पुद्गल पर द्रव्य है। संसार में यदि कोई अभीष्ट वस्तु है—यदि हमारा कोई अतिथि के समान प्रिय तत्व है तो वह बस हमारा आत्मा ही है। श्री जिनेन्द्र प्रभु कहते हैं कि आत्मा ही परमात्मा है और परमात्मा ही आत्मा है। इसी आत्मा का स्वागत सत्कार करना, बस इसी को निश्चय नय से अतिथि सुयं संविभाग व्रत कहते हैं।

सल्लेहना सरीरो, इन्द्री मन पसारे दोस सलिहेई ।
सलिहेई रायं दोसं, मिथ्या अज्ञान सल्य सलिहेई ॥४९८॥
सलिहेई सयल विभावं, अप्पा अप्पेन चेयना सुद्धं ।
अप्पा परमप्पानं, निश्चय हिये दंसनं सुद्धं ॥४९९॥

नश्वर तन से मोह हटाकर, मन पर जय पा जाना ।
रागद्वेष अज्ञान जीतकर, सल्यों को बिखराना ॥
सकल विभावों से नाता तज, आतम से रति करना ।
कहते हैं इसको ही श्रीजिन सल्लेखन व्रत धरना ॥

नश्वर जग से मोह हटाकर, मन पर विजय पाना रागद्वेष जीतकर शल्यों को तृणवत् तोड़ना तथा सकल विभावों से सम्बन्ध विच्छेद कर आत्मा से प्रीति लगाना; श्री जिनेन्द्र देव इसी को सल्लेखना सार व्रत धारण करना कहते हैं।

बारह त्रय उवएसं, धरन्ति भावे विशुद्ध सद्भावं ।
आसन्नभव्वपुरिसा, ज्ञानबलेन निव्वुए जंती ॥५००॥

निर्मल भावों से जो मानव, द्वादस व्रत धरता है ।
वह इस दुर्लभ मानुषतन को, पूर्ण सफल करता है ॥
बनकर के आसन्न भव्य वह, तापस जप-तप धारी ।
सत, शिव, सुन्दर मोक्ष महल का, हो जाता अधिकारी ॥

जो सत्पुरुष निर्मल भावों से द्वादश तप तपता है, वह वीर पुरुष अपने मनुष्य जन्म को सफल कर लेता है। वह आसन्न भव्य, निकट संसारी बनकर, कुछ ही समय में मोक्ष महल को प्राप्त कर लेता है ।

—: द्वादश तप :—

तव बारह उवएसं, अप्प सहावं च दंसनं सुद्धं ।
चरनं चरित्तवंतं, साहंति जे भव्य पुरिसस्या ॥५०१॥

++++++

श्री जिन प्रभुने जिन आगम में द्वादश तप बतलाये ।
और कि जिनने वे तप तापे, वे सब मुक्ति सिधाये ॥
निज स्वभाव में दर्शन ज्ञानाचार सहित आचरना ।
निश्चयनय से बस यह ही है, द्वादश तप का धरना ॥

++++++

श्री जिनेन्द्र भगवान ने आगम में द्वादश भाँति के तप बतलाये हैं। और जिन्होंने ये तप तपे हैं, उन्होंने निर्वाण फल प्राप्त किया है, यह ध्रुव है और सत्य है। निश्चयनय से अपने ही स्वभाव में दर्शन, ज्ञान और आचरण सहित रमने को ही द्वादश तप कहते हैं।

❋

वाहिज तव संसुद्धं. सुद्धं सम्पत्त सुद्ध ससहावं ।
सुद्धं दंसन ज्ञानं, सुद्धं चरनं पि सहाव तव यरनं ॥५०२॥

++++++

अंतर तप क्या, निज स्वभाव में रमना ही बस भाई ।
दर्शन ज्ञानाचार सिन्धु में, करना केलि सुहाई ॥
पंचेन्द्रिय का निग्रह करके, तप की अग्नि जलाना ।
इन ही को बस जिन आगम में, वाहिज तप है माना ॥

++++++

निज स्वभाव में रमना और रत्नत्रय में क्रीड़ा करना, बस यही अंतरंग तप है। और पंचेन्द्रियों का निग्रह करके, द्वादश भाँति के तप तपना, श्री जिनेन्द्र देव ने इन्हीं को बहिरंग तप की संज्ञा दी है।

अनसयन सयन सुद्धं, मनवयकायेन सुद्ध तव यरनं ।
सयनं अप्प सहावं, परिनामं सुद्ध साधनं जुरं ॥५०३॥

******

आतम कारज में कि जहां पर, रंच न निद्रा आवे ।
मन वच काय त्रियोग जहां पर, बस तप में जुट जावे ॥
आत्म सैन्य जिस बल कि बिदारे, पर परणतियें सारी ।
होता अनशन तप कि वहीं पर, भव भव का दुखहारी ॥

******

जहां पर आत्मा के हित के कार्यों में तनिक भी आलस्य न आवे, मन, वच और काया से जहां तप में संलग्नता हो और जहाँ पर पर परिणितियां मंद पड़ जायें, वही 'अनशन' नाम का तप होता है ।

✷

अनसन अप्प सहावं, रागादि दोस सयल परिहानं ।
मिथ्या कुन्नान कसायं, तिक्तंति अनसन सुद्ध ससहावं ॥५०४॥

******

आतम में ही लय हो जाना, यह ही बस अनशन है ।
अनशन वह रागादि मलों का, करता जो न अशन है ॥
अनशन वह कुज्ञान कालिमा, जिनके पास न जाती ।
अनशन वह जलती नित जिसमें निज स्वभाव की बाती ॥

******

वास्तव में आत्मा में लय हो जाने का नाम ही अनशन है । शाब्दिक अर्थ में अनशन वह जो रागद्वेष आदि मलों के आहार के अशन से रहित हो, कुज्ञान कालिमा जिसके पास न आवे, और जहाँ पर सदा निज स्वभाव की ज्योति जलती हो ।

अनसन अरूव रूवं, रूवातीतं च भाव चिन्ततो ।
ज्ञानमई स सहावं, ज्ञान सहावं च अनसनं सुद्धं ॥५०५

✦✦✦✦✦✦

जो है रूपातीत कि अनशन, उस चिन्तन की झांकी ।
मूर्ति रहित चैतन्य प्रभो की, अनशन मूरत बांकी ॥
अनशन वह परिणति है जिसमें, नित प्रति ज्ञान सजग है ।
और स्वयं वह ज्ञान कि अनशन, जो नित जगमग जग है ॥

✦✦✦✦✦✦

अनशन उस चिन्तवन की प्रतिमूर्ति है, जो रूपातीत है – निराकार है - या अनशन स्वयं चैतन्य महाप्रभु का ही दूसरा रूप है— या अनशन वह परणति है, जिसमें नित्य प्रति प्रखर ज्ञान क्रीड़ा करता है— या अनशन स्वयं ही वह ज्ञान है, जो प्रकाश से नित्य जगमगाया करता है ।

✱

विरइय संसार सुभावं, विरइय मिच्छातदोस परिनामं ।
रइयं सुद्ध सहावं, ज्ञान सहावेन अनसनं सुद्धं ॥५०६

✦✦✦✦✦✦

इस क्षणभंगुर नश्वर जग से, तजना ममता माया ।
और न उर पर मिथ्यात्रय की पड़ने देना छाया ॥
निज स्वभाव में नित्य निरंतर, रहना लीन कि भाई ।
कहते हैं इस ही को सच्चा, अनशन तप जिनराई ॥

✦✦✦✦✦✦

इस नश्वर जग से अपना नाता छोड़ देना, अपने हृदय पर मिथ्यात्व की छाया तक न पड़ने देना और प्रति पल निज स्वभाव में लीन रहना, श्री जिनेन्द्र देव वास्तव में इसे ही अनशन कहते हैं ।

ज्ञानेन ज्ञान सुद्धं, कुज्ञानं त्यजंति सव्वहा सव्वे ।
इन्द्री विषय विमुक्कं, ज्ञान सहावेन अनसनं ममलं ॥५०७

******

आत्मज्ञान के अनुभव से जो, अपना ज्ञान बढ़ाते ।
और कि जो कुज्ञान उन्हें जो तृण सा तोड़ बहाते ॥
पंचेन्द्रिय के भोग कि जिनसे, रहते एक किनारे ।
तपते हैं अनशन तप वे ही, साधु त्रिजग उजियारे ॥

******

जो आत्मज्ञान के अनुभव से नित्य प्रति अपना ज्ञान बढ़ाते रहते हैं; कुज्ञान को जो तृण समान तोड़ देते हैं और पंचेन्द्रिय के भोगों से जो कोसों दूर रहते हैं, वही निर्ग्रन्थ साधु वास्तव में अनशन तप के अधिकारी होते हैं ।

*

अप्प सहावं निलयं, ममलं अप्प निम्मलं च परमप्पा ।
सम्यक् दंसन दर्सं, आमोदर्जं सुद्ध मप्पानं ॥५०८

******

आतम के निर्मल स्वभाव में, पल पल गोते खाना ।
आतम ही बस परमातम है, ऐसी श्रद्धा लाना ॥
आतम में गाढ़ो से गाढ़ो श्रद्धा रखना भाई ।
कहलाता है बस यह ही तप, आमोदर्य सुखाई ॥

******

आत्मा के स्वभाव में नित्य प्रति रमण करना, आत्मा ही परमात्मा है ऐसी हृदय में श्रद्धा रखना और आत्मा को छोड़कर दूसरी किसी पर वस्तु का चिन्तवन न करना, बस इसी को निश्चय से आमोदर्य व्रत कहते हैं ।

सम्यक् ज्ञानं जानदि, सम्यक् चरनं चरंति भावेन ।
सम्यक् परिने सुद्धं, आमोदर्ज सुद्ध मप्पानं ॥५०९

क्या है सम्यग्ज्ञान कि जिसको, पूरा ज्ञान है भाई ।
और नहीं अनजान कि जिससे चारित की गहराई ॥
सम्यग्दर्शन की प्रतीति से जिसका पूरित प्याला ।
रखता आमोदर्य-सूर्य का, बस वह ही उजियाला ॥

जो सम्यग्ज्ञान से परिपूर्ण, चरित्र का जो गेह है तथा सम्यग्दर्शन जिसका प्रगाढ़ है—निस्पन्द है, ऐसा विवेकी पुरुष ही आमोदर्य व्रत पालन करने का सामर्थ्य रखता है ।

अनन्त दर्सन दरसै, जानदि पिच्छेइ ज्ञान स सहावं ।
तप यरनं संजुत्तं, आमोदर्ज ज्ञान सहकारं ॥५१०

आत्मज्ञान के सहित कि जो नर, आत्मोदर्य जगाते ।
आतम को पहिचान कि जो बस, आतम में रम जाते ॥
चार घातिया कर्म नाश वे, बनते दर्शन धारी ।
होकर के अरहंत कि पाते, चिर सुख की फुलवारी ॥

आत्मज्ञान को रखते हुये जो नर आमोदर्य तप का साधन करते हैं, आत्मा को पहिचान कर जो सदा आत्मा में ही तल्लीन रहते हैं, वे चार घातिया कर्मों को काटकर, अखंड दर्शन के धारी बन जाते हैं और एक दिन अरहन्त पद प्राप्त कर मुक्ति-लाभ कर लेते हैं ।

वस्तुसंख्या परमाणं, वासं संसार तिक्त मोहंधं।
मिच्छातवविरय विरयं, रागादि दोस विरय विरयंती ॥५११

✦✦✦✦✦

यह संसार असार कि इससे, रखना नेह न नाता।
मिथ्या-दर्शन हेय कि यह भी, भव भव में भरमाता॥
रागद्वेष भी त्याज्य कि वह भी, नर्क निगोद दिखाये।
वस्तु परिसंख्या प्रमाण तप, बस यह ही कहलाये॥

✦✦✦✦✦✦

यह संसार असार है, अतः इससे नेह नाता नहीं रखना चाहिये, मिथ्यादर्शन भी हेय है, क्यों कि वह भव भव में भ्रमण कराता है। रागद्वेष भी त्याज्य है, क्यों कि वह नर्क निगोद का पात्र बनाता है। इस प्रकार की त्यागरूप परणति को ही वस्तु परिसंख्या-प्रमाण तप कहते हैं।

✱

विरइय परिनाम असुद्धं, वासं विरयं मिन्नान सहकारं।
जं चिय असुह परिनामं, विरइय परमादन्नान सहकारं ॥५१२

✦✦✦✦✦✦

अशुभ भाव जितने हैं उनका त्याग जहां पर होवे।
और जहां पर ज्ञान निरंतर, मन को कीचड़ धोवे॥
रागद्वेष का नाम जहां पर, भूले से न दिखाता।
वस्तु परिसंख्या प्रमाण तप, छवि उस थल ही पाता॥

✦✦✦✦✦

जहाँ पर अशुभ भावों का त्याग हो, जहां पर ज्ञान मन को प्रतिपल निर्मल बनाता हो तथा रागद्वेष जहा भूले से भी दृष्टिगोचर न होता हो, वहीं वस्तु परिसंख्या-प्रमाण तप अपना रूप दिखलाता है।

तवयरनं ज्ञान सह्रावं, उग्र तवयरन उर्ध सद्भावं ।
दिति सुदर्सनं सुद्धं, घोरार्नव संसार सरनि मुक्तस्य ॥५१३

ज्ञान रूप में दृढ़ हो, निर्मल तप का दीप जलाना ।
ऊर्ध्व भाव में लय होकर, या आत्मसमाधि लगाना ॥
अपने आतम को कि पिलाना, श्रद्धारस का प्याला ।
वस्तु परिसंख्या तप वह हो, होता भव्य निराला ॥

अपने आत्मरूप में दृढ़ होकर, तपस्या का दीप जलाना, ऊर्ध्व भाव में लय होकर आत्म-समाधि लगाना तथा निरंतर दर्शन का प्याला पीते रहना, बस इसी को वस्तु परिसंख्या-प्रमाण तप कहते हैं ।

वासं तिक्त सुमेओ, ज्ञानबलेन तिक्त संसारं ।
दंसन ज्ञान ससमयं, ज्ञानबलेन सुद्ध तव यरनं ॥ ५१४

छूटे अपने आप जहां पर, अपना वास बसेरा ।
और ज्ञान के बल से छूटे, संसृति का भी डेरा ॥
समकित की हो गूंज जहां पर, और कि तप का साधन ।
वस्तु परिसंख्या प्रमाण तप, होता वह ही पावन ॥

जहां पर सहज ही घर द्वार का त्याग हो जावे और ज्ञान के बल से जहां जगत से भी नाता टूट जाये, सम्यक्त्व की जहाँ पर निरन्तर ध्वनि सुनाई देती हो और तप करने के जहां सारे साधन हों, वहीं वस्तु परिसंख्या प्रमाण तप के दर्शन होते हैं ।

अप्प सरूवं पिच्छदि, जानदि ज्ञानेन दव्वए जीवं ।
ज्ञानेन ज्ञान सुद्धं, वासं तिक्तंति इत्थु संसारे ॥५१५

******

होता है जो वस्तु परिसंख्या नामक तप का धारी ।
रहता है वह प्रिय आतम का एक अनन्य पुजारी ॥
होता है वह षट द्रव्यों का और जीव का ज्ञाता ।
इस नश्वर क्षणभंगुर जग से, तज देता वह नाता ॥

******

जो वस्तु परिसंख्या प्रमाण तप का धारी होता है, वह आत्मा का अनन्य पुजारी होता है, षट् द्रव्यों का वह पूर्ण ज्ञाता होता है, संसार से वह अपनी पूर्ण ममता माया छोड़ देता है ।

*

रसियं मिथ्यात मइयं, रसियं संसार सरनि वासंमि ।
कुज्ञानं रसियानं, ज्ञान सहावेन सयल तिक्तं च ॥५१६

******

जग में जो मिथ्यात्व तीन हैं, बनना उनके त्यागी ।
इस असार, क्षणभंगुर जग से बनना पूर्ण विरागी ॥
और कि जग के कुज्ञानों से, तजना अपना नाता ।
इन पांचों रस का तजना ही, रस परित्याग कहाता ॥

******

संसार में जो तीन मिथ्यात्व हैं उनको तज देना, इस असार संसार से अपना नाता तोड़ देना और संसार में जितने भी कुज्ञान हैं, उन सबसे भी अपना हृदय रिक्त बना लेना। इन पांचों वस्तु के त्याग को ही रस-परित्याग तप कहते हैं ।

रसियंति मूढभावं, मल पचीस रसित सम्भावं ।
रसियं संसारवने, ज्ञान सहावेन सयल तिक्तं च ॥५१७

******

तीन मूढ़ताओं को तजना, रस तीनों दुखदाई ।
पंच बीस दोषों के रस को तजना एक इकाई ॥
इस जग के बीहड़ वन से भी, तजना अपना नाता ।
इन पांचों रस का तजना ही रस परित्याग कहाता ॥

******

तीन मूढ़ताओं के तीन रस, पच्चीस दोषों का एक रस, तथा संसार की माया ममता का एक रस, इस प्रकार उक्त पांच प्रकार के रसों को तजना ही रस-परित्याग व्रत कहलाता है ।

विकहा वसन सहावं, आरति रौद्रस्य सम्भावं ।
परपंच, विभ्रम, रसियं, ज्ञान सहावेन सयल तिक्तं च ॥५१८

******

विकथाओं के रस को तजना, तजना व्यसन दुखारी ।
आर्तरौद्र भावों के तजना, रस दोनों अपकारी ॥
तजना वह परपंची रस भी, जो भव भव भरमाता ।
इन पांचों रस का तजना ही, रस परित्याग कहाता ॥

******

विकथाओं का रस, व्यसनों का रस, आर्त और रौद्र इन दो ध्यानों के रस तथा संसार के प्रपंचों का रस, इन पांचों रसों के त्याग को ही, रस-परित्याग तप कहते हैं ।

सुद्ध रसिय सुज्ञानं, दंसनवरज्ञान सुद्धतवयरनं ।
अप्पा परमप्पानं, ज्ञानसहावेन सुद्ध तवयरनं ॥५१९

वे ही हैं जप तप व्रतधारी, पंच रसों के त्यागी ।
सब रस से हो निरस कि बनते, जो निज रस अनुरागी ॥
ज्ञान कि जिनका रुचिकर रस है, समकित क्रीड़ांगन है ।
"आतम परमातम" ही जिनका, मंत्र परम पावन है ॥

वे ही जप, तप और व्रत के धारी हैं तथा वे ही पंच रसों के त्यागी हैं कि जो सब रसों से निरस होकर निज रस के ही अनुरागी हो जाते हैं, ज्ञान ही जिनका रुचिकर रस, सम्यक्त्व ही जिनका क्रीडास्थल, तथा "आत्मा ही परमात्मा है" यही जिनका परम प्रिय मंत्र होता है ।

विविक्त आसन सेज्जा, पुग्गल जीवान विविक्तुं सुद्धं ।
पुग्गलसरनि विमुक्कं, अप्पा अप्पेन दंसनं सुद्धं ॥५२०

पुद्गलरूपी जंतु जहां पर देवें कोई न पीड़ा ।
उस आतम रूपी शय्या पर, करना नित प्रति क्रीड़ा ॥
या पुद्गल की शरण छोड़कर, आतम में पग जाना ।
तप विविक्त शैयासन केवल, बस इसको ही माना ॥

जहां पर पद्गलरूपी जंतु किसी प्रकार की पीड़ा नहीं देते उस आत्मारूपी शैय्या पर ही शयन करना या पुद्गल की शरण छोड़कर आत्मा में ही लीन हो जाना बस उसी को निश्चय नय से विविक्त शय्यासन तप कहते हैं ।

विविक्तं घाय चवकं, विविक्त कम्मान तिविहि जोएन ।
मिथ्याराग विविक्तं, सुद्धं असुद्ध विविक्तं परिनया हुंती ॥५२१॥

******

चार घातिया कर्म जिन्हों ने, निजबल से संहारे ।
और कि सारे कर्म जिन्हों से हारे, सब विधि हारे ॥
पर परणतियें छोड़ कि करते जो आतम से यारी ।
वे विविक्त शय्यासन के ही, होते बस अधिकारी ॥

******

जिन्होंने चार घतिया कर्म को जीत लिया है तथा पर परणतियों से नाता तोड़कर जो आत्मा के परम पुजारी बन गये हैं वे ही पुरुष "विविक्तशय्यासन" तप करने में समर्थ होते हैं ।

विविक्त सयनासन, विविक्त मनचवल इन्दिया विषयं ।
ज्ञान बलेन विविक्तं, अप्पा परमप्प ज्ञान स सरूवं ॥५२२॥

******

जिसने अपने चंचल मन की, चंचल गति संहारी ।
ठुकरा दी चरणों से जिसने, भोगों की फुलवारी ॥
आत्मज्ञान जिसका नित कहता, आतम परमोत्तम है ।
बस विविक्त शय्यासन धारी, वह मानव उत्तम है ॥

******

जिसने अपने चंचल मन पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है, भोगों की फुलवारी जिसने तृण समान छोड़ दी है तथा आतमा और परमातमा में जो कुछ भी भेद नहीं मानता, वही ज्ञानी पुरुष विविक्त शय्यासन तप तपने का अधिकारी होता है ।

कायकलेसं उत्तं, कललंकृत कम्म त्यजंति संसारे ।
सुद्धं सरूवं पिच्छदि, ज्ञानसहावेन कायअकलेसं ॥५२३॥

कर्मों से मैं पूर्ण रहित हूँ और कि सुख-सागर हूं ।
मुझको कायाक्लेश नहीं है, मैं ध्रुव और अमर हूं ॥
ऐसा चिन्तन करते करते, आतम में रम जाना ।
निश्चयनय से कायक्लेश तप बस इस ही माना ॥

मैं कर्मों से पूर्ण रहित हूं, सुखों का सागर हूं, मुझे किसी भी प्रकार का कायक्लेश नहीं है तथा मैं अजर, अमर, अविनाशी हूं । इस प्रकार का चिन्तवन करते करते आत्मा में लवलीन हो जाना । ज्ञानियों ने इसे ही कायक्लेश तप माना है ।

कायाकलेस असुद्धं, सरीर संस्कार इंद्रिया विषयं ।
अप्प सहावं ममलं, ज्ञान सहावेन काय अकलेसं ॥५२४॥

जैसे तन को सुख पहुँचाना, केवल पागलपन है ।
वैसे तन को दुख देना भी, केवल कार्य मलिन है ।
आत्म-रमण में ही मानव का केवल सच्चा हित है ।
आत्म-रमण में ही बस सच्चा कायाक्लेश निहित है ।

जिस प्रकार तन को सुख पहुँचाना केवल पागलपन ही है, वैसा ही उसे नाना भांति के दुख देना भी विवेक से पूर्ण नहीं है । आत्म-रमण में ही मानव का सच्चा हित है और इसी आत्म-रमण को ही सच्चा काया क्लेश तप कहते हैं । आत्मीय आनन्द के रहने तक जो तप वृत की साधनायें हैं सो ही सुतप होता है, अन्यथा कुतप हो जाता है ।

अप्प सहावं उववन्नं, पर दव्वं विरय सव्वहा सव्वे ।
अप्प सहावं रूवं, ज्ञान सहावेन हुंति तव यरनं ॥५२५॥

✦✦✦✦✦✦

पर द्रव्यों से नेह तोड़कर, तोड़ कि उनसे नाता ।
आतम में ही लय हो करना, ग्रहण सदा सुख साता ॥
यह ही बस इक सच्चा तप है, तप है और जो भाई ।
आतम से ही प्रोति लगाकर, पावो शिव सुखदाई ॥

✦✦✦✦✦✦

पर द्रव्यों से नेह तोड़कर, आत्मा में ही लय हो जाना, बस यही एक सच्चा तप है। इसके सिवा वास्तविक तप और नहीं है । सत्पुरुषों को आत्म-स्वभाव में ही रमण कर द्वादश विधि तप के पात्र बनना चाहिये ।

✸

वाहिज तव उवएसं, अभिंतर तव सुद्ध ससहावं ।
अप्प सरूवं पिच्छदि, अप्पा परमप्प तिविहि जोएन ॥५२६॥

✦✦✦✦✦✦

मन वच काया थिर कर तीनों, आत्म-समाधि लगाना ।
वहिर्जगत से नाता तजकर, आतम में पग जाना ॥
आतम परमातम की जिस थल गूंजे मंजु प्रभाती ।
आभ्यन्तर तप की सत् झांकी उस थल हो दिखलाती ॥

✦✦✦✦✦✦

जहां मन, वचन, काया तीनों योगों से आत्मसमाधि लगाई जाती है, बहिर्जगत से जहां नाता टूट जाता है तथा जहां प्रति समय आत्मा और परमात्मा के ही गीत सुनाई देते हैं, वहीं आभ्यंतर तप की मधुर झांकी दृष्टिगोचर होती है ।

प्रायच्छित्त विनयेन, वैयाव्रत सुद्ध ध्यायमुपएसं ।
उत्सर्गं उवएसं, झानं झायंति सुद्ध मप्पानं ॥५२७॥

प्रायश्चित, विनय, वैयावृत मनवांछित फलदायक ।
स्वाध्याय, व्युतसर्ग, ध्यान यह तप छह हैं सब लायक ॥
ये तप छह आभ्यन्तर तप हैं, जो संसार गलाते ।
कर्मों से कर हीन मनुज को जो शिवपुर पहुँचाते ॥

आभ्यन्तर तप छह हैं (१) प्रायश्चित (२) विनय (३) वैयाव्रत (४) स्वाध्याय (५) व्युत्सर्ग (६) ध्यान। ये तप संसार का नाश करके मनुष्य को उसका मन-वांछित फल अर्थात् मुक्ति प्राप्त कराते हैं।

प्रस्तुतं नहि पिच्छदि, अप्राच्छितं परम सुद्ध मप्पानं ।
मिथ्या मयं न दिष्टदि, सुद्ध सहावेन सरूव पिच्छंतो ॥५२८॥

प्रस्तुत रागादिक तजकर जो आत्म परोक्ष निहारें ।
और उसे दृग बीच बनाकर तन मन उस पर वारें ॥
मान और मद से खाली हो जो निज को पहिचानें ।
प्रायश्चित तप का बस वे ही मर्म कि सच्चा जानें ॥

जो रागद्वेष तजकर आत्मा और पर को निहारते हैं, मान और मद से जिनके हृदय रिक्त हैं, वे ही पुरुष प्रायश्चित तप का मर्म जानते हैं।

रागादि दोस रहियं, धम्म झानं झायंति तं मुनिना ।
कुज्ञान सल्य रहियं, रूवत्थं सरूव ज्ञानत्थं ॥५२९॥

++++++

होते मुनि निर्ग्रन्थ दिगम्बर, धर्म ध्यान के ध्याता ।
और धर्म वह रंच न जिसका, रागादिक से नाता ॥
शल्य और कुज्ञान न जिसके आंगन में पग धरते ।
ऐसा ही वर धर्म ध्यान मुनि प्रायश्चित तप करते ॥

++++++

निर्ग्रन्थ मुनि उस धर्म ध्यान के ध्याता होते हैं जो रागद्वेष आदि से पूर्ण रहित होता है, शल्य और कुज्ञान की जिसमें झलक तक नहीं दिखाई देती। ऐसा ही धर्मध्यान धरकर मुनि प्रायश्चित तप का साधन करते हैं।

✱

इन्द्री विषय विमुक्कं, अप्प सरूवं च चेयना सुद्धं ।
मन चवलं रुंधंता, सम्यग्दर्शन दर्शनं सुद्धं ॥५३०॥

++++++

पंचेन्द्रिय भोगों से अपना, मोड़ कि मन मतवाला ।
अचल अडिग श्रद्धा का पीना नित्य निरंतर प्याला ॥
सांस सांस में कूंजित करना सोऽहं की शहनाई ।
होता है संतों का यह ही प्रायश्चित तप हे भाई ॥

++++++

पंचेन्द्रिय भोगों से अपने मन को मोड़कर, अखंड श्रद्धा को धरना, तथा सोऽहंका अजपा जाप करना, इसी को संतों का प्रायश्चित तप माना गया है।

असुद्ध परिनय त्रिरयं, सुद्ध परिनवईसरूव पिच्छंति ।
अप्पा अप्पमि रइओ, ज्ञान सहावेन सुद्ध तव यरनं ॥५३१॥

⋄⋄⋄⋄⋄⋄

असुभ, मलिन, खल परिणतियों से रखना मन को न्यारा ।
और निछावर आतम पर ही करना पूर्ण पसारा ।
आतम का अपने आतम में लय तन्मय हो जाना ।
बस यह ही प्रायश्चित तप है, संत जनों का बाना ॥

⋄⋄⋄⋄⋄⋄

अशुभ मलिन परणतियों से अपने मन को न्यारा रखना और आत्मा का आत्मा में पूर्णरूप से तन्मय हो जाना, इसी को साधु पुरुषों का प्रायश्चित तप कहा गया है।

✱

त्रिज्ञानं स सहावं, अप्पा परपिच्छि त्रिरय बहिरप्पा ।
विज्ञान ज्ञान ज्ञायदि, अप्पा परमप्प सुद्ध त्रिज्ञानं ॥५३२॥

⋄⋄⋄⋄⋄⋄

आतम क्या है और कि क्या है पर, जो यह पहिचाने ।
पर से तजकर नेह कि केवल जो आतम को जाने ॥
आतम ही परमातम है बस, जिसका हो आराधन ।
करता है निर्ग्रन्थ वही बस, विनय महातप साधन ॥

⋄⋄⋄⋄⋄⋄

जो आत्मा और पर को पहिचानता है और पहिचान कर पर को छोड़ केवल आत्मा से ही सम्बन्ध रखता है, आत्मा ही परमात्मा है यही जिसका परम मन्त्र होता है, वही निर्ग्रन्थ साधु विनय तप की महासाधना करता है।

विनयेन सुद्ध भावं, मय मिच्छात दोस विरयंमि ।
आद सहावं विनयं, सल्यं कुन्नान दोस विरयंती ॥५३३॥

******

राग द्वेष मद मान मोह के तोड़ भयंकर जाले ।
तीन शल्य मिथ्या ज्ञानों के फोड़ अहितकर प्याले ॥
बनते हैं जो अलख अगोचर, आतम—कुन्ज—विहारी ।
होते हैं सत्साधु वही बस, विनय महातप धारी ॥

******

जो रागद्वेष, मद, मान और मोह के जालों को तोड़ देता है; तीनों शल्य और मिथ्या-ज्ञानों से जो पूर्ण रहित होता है तथा आत्मा के प्रति जिसकी अखंड श्रद्धा होती है, वही साधु विनय तप का धारी होता है ।

*

विनयपदानं अंगं, असुह संसार सरनि विरदोयो ।
परिनाम सुद्ध भावं, ज्ञान सहावेन जोइ तत्र्यरनं ॥५३४॥

******

अशुभ मलिनतम इस भव—जल में होकर जो पर पारे ।
द्वादशांग पर अर्पित करता विनय पुहुप इतनारे ॥
शुद्ध ममल भावों में करता जो नर नित विचरण है ।
वैय्यावृत तप का धारी बस, वह ही श्रेष्ठ श्रमण है ॥

******

जो इस अशुभ, मलिन और दुखपूर्ण संसार से नेह तजकर, द्वादशांग वाणी पर ही अपना सर्वस्व न्योछावर कर देता है तथा शुद्ध और निर्मल भावों में ही जिसका चित्त रमण करता है, वही साधु वास्तविक वैयावृत तप की साधना करता है ।

वेय्यावृतं स उत्तं, वय संजम वृत्ति सुद्ध सम्मत्तं ।
वेय्याव्रत ज्ञान सहावं, मिच्छा कुज्ञान सयल विरयंमि ॥५३५॥

++++++

व्रत से, संयम से, समकित से, निज की सेवा करना ।
ज्ञान स्वरूपी आतम में ही, हो निर्लेप विचरना ॥
मिथ्या कुज्ञानों से करना, करना पूर्ण किनारा ।
जिन आगम कहता कि इसी को वैय्यावृत तप प्यारा ॥

++++++

व्रत से, संयम से तथा सम्यक्त्व पालन से, अपने आत्मा की सेवा करना; उसमें निर्लिप्त होकर सेवा करना तथा मिथ्या ज्ञानों से सदा किनारा रखना, इसी को ज्ञानियों ने वैयावृत तप माना है ।

■

अप्पा परमप्पानं, पिच्छे लोयालोयंमि अवयासं ।
रूवानं रूवतीतं, ज्ञानं झायंति सुद्ध मप्पानं ॥५३६॥

++++++

ज्ञानस्वभावी यह आतम है लोकालोक बिहारी ।
इससे आतम परमातम है, परमातम अविकारी ॥
रूप विगत आतमपद में जो रहता नित्य मगन है ।
वैयावृत तप का धारी बस वह ही श्रेष्ठ श्रमण है ॥

++++++

जो इस परमात्मा-रूपी आत्मा में ही नित्य मगन रहता है तथा उसके ज्ञान स्वभाव में ही नित्य प्रति विचरण करता है, वही साधु वैयावृत तप की पूर्ण साधना करता है ।

लिंगं च जिनवरिंदं, धम्मं सुक्कं च भावना सुद्धं ।
झायंति झान सुद्धं, वेय्यावृतं च सुद्ध स सरूवं ॥५३७॥

द्रव्य भाव लिंगों का है जो जो जिनके सम धारी ।
धर्म शुक्ल भावों का करता जो नित ध्यान सुखारी ॥
निर्मलता का निर्झर जिसमें झर झर झर झरता है ।
वैयावृत तप का सत्साधन संत वही करता है ॥

जो जिनेन्द्र भगवान के समान ही द्रव्य और भाव लिंगों का धारी है, धर्म और शुक्ल ध्यानों को जो प्रति समय ध्याता है तथा जिसके भावों में पूर्ण निर्मलता रहती है, वही साधु वैयावृत तप का समुचित पालन करता है ।

षिय उवसम संजुत्तं षिपनिक भावेन सयल दोस परिचत्तं ।
ऋजुविपुलं च उवन्नं, ज्ञान सहावेन हुंति तवयरनं ॥५३८॥

होती है जिन सत्संतों पर क्षय उपशम निधि प्यारी ।
वैयावृत से हो जाते हैं वे क्षायिक के धारी ॥
वैयावृत तप एक दिवस फिर वह भी दिखलाता है ।
ऋजु विपुल-द्वय सहित कि वह मनपर्यय पा जाता है ॥

जिन संतों को क्षयोपशम प्राप्त हो जाता है वे वैयावृत की साधना कर, क्षायिक सम्यक्त्व की प्राप्ति कर लेते हैं । और कालान्तर में वे ऋजु और विपुल सहित मन:पर्यय ज्ञान के भी धारी हो जाते हैं ।

सुद्धं सुद्ध सरूवं, सुद्धं झायंति सुद्ध मप्पानं ।
मिच्छा कुन्नान विरयं, सुद्ध सहावं च सुद्ध झानत्थं ॥५३९॥

होते हैं जो संत तपोनिधि, स्वाध्याय तप धारी ।
आतम परमातम के होते वे नर पूर्ण पुजारी ॥
रहते हैं मिथ्याज्ञानों से वे नर दूर निराले ।
पीते रहते स्वातम भाव के वे नित अमृत प्याले ॥

जो साधु स्वाध्याय तप के धारी होते हैं, वे परमात्मा रूपी आत्मा के निष्ठ पुजारी होते हैं। मिथ्याज्ञानों से वे कोसों दूर रहते हैं और सदा आत्मरमण के प्याले पीते हुये वे अपने में ही मगन रहा करते हैं।

सुद्धं जिने हि उत्तं, असुद्धं संसार सरनि विरदो यो ।
सुद्धं परमानंदं, सुद्ध सहावं च निम्मलं सुद्धं ॥५४०॥

असत अनृत भ्रमपूर्ण जगत का तजकर कुटिल किनारा ।
रहता परमानन्द मगन जो संत निराकुल न्यारा ॥
आतम परमातम में हो बस जो विचरण करता है ।
स्वाध्याय नामक बस वह ही उत्तम तप धरता है ॥

असत, अनृत और भयपूर्ण जगत से दूर रहकर जो सन्त सदा स्वातम मगन रहते हैं तथा प्रति समय जो आत्मा में ही विचरण करते हैं वही स्वाध्याय नाम का महातम धरते हैं।

सुद्धं ध्यान्य स उत्तं, विभ्रम परपंच तिक्त मोहंधं ।
सुद्धं दंसन सुद्धं, अप्पा सुद्धप्प परम सुद्धं च ॥५४१॥

••••••

तोड़ प्रपंचों के विभ्रम के मोह-तिमिर के जाले ।
पीना नित प्रति नित्य निरंतर आतम-रस के प्याले ॥
आतम को परमातम कहकर मनन उसी का करना ।
होता है बस एक कि यह हो स्वाध्याय तप वरना ॥

••••••

जगत के सारे प्रपंच और विभ्रम के जाले तोड़कर नित्य प्रति आतम रस के ही प्याले पीना तथा आत्मा को परमात्मा मानकर उसी का मनन और उसी का चिन्तवन करना, यही निश्चयनय से स्वाध्याय तप की साधना होती है ।

✻

कायोत्सर्ग स उत्तं, कायोत्सर्ग ऊर्ध सुद्ध ससभावं ।
विंदंति विंद रूवं, आद सहावं च निम्मलं झानं ॥५४२॥

••••••

काया से जो रहित कि जिसका ऊर्ध्व स्वभाव ममल है ।
करना उस आतम को अनुभव यह ही सिद्ध सकल है ॥
बिन्दमयी ओंकार रूप में निश्चल हो रम जाना ।
आगम ने व्युत्सर्ग महातप एक इसी को माना ॥

••••••

जो निराकार है, निष्कल है तथा ऊर्ध्व स्वभाव का धारी है, उसी सिद्ध के समान अपने आत्मा में निश्चल होकर रम जाना, इसी को व्युत्सर्ग तप कहते हैं ।

सम्यक्‌दर्सन सुद्धं, उत्सर्गं ऊर्ध चेयना भावं ।
गय संकप्प वियप्पं, अप्पा परमप्प तुल्य संकलियं ॥५४३॥

******

सच्चा तप व्युत्सर्ग कि भव्यो है बस सम्यग्दर्शन ।
वह दर्शन होता नित जिसमें ऊर्ध्व भाव का वर्णन ॥
संकल्पों से और विकल्पों से जो है गत भाई ।
होता आतम परमातम का नाद जहां सुखदाई ॥

******

जो ऊर्ध्व भावों का केन्द्र है, संकल्प और विकल्प जिसमें रंचमात्र भी नहीं दिखाते तथा आत्मा और परमात्मा के जिसमें नित्य प्रति दर्शन होते रहते हैं, वह सम्यक्त्व ही सच्चा व्युत्सर्ग तप है ।

*

तिअर्थं समय सुद्धं, जानंति ऋजु विपुल ज्ञान सद्‌भावं ।
उत्सर्गं ऊर्ध गुनं, ज्ञान सहावेन सुद्ध तत्र यरनं ॥५४४॥

******

दर्शन ज्ञानाचार मयी है जो आतम शुचि पावन ।
उसकी ही अर्चा निश्चय से है व्युतसर्ग सुहावन ॥
रत्नत्रय ही ऋजु विपुल द्वय ज्ञानों का दाता है ।
रत्नत्रय ही इस आतम से केवल प्रगटाता है ॥

******

जो रत्नत्रय से पूर्ण है, उसी आत्मा की अर्चा और उसी की चर्चा ही सच्चा व्युत्सर्ग तप-पालन है, क्योंकि रत्नत्रय ही ऋजु विपुलों का दाता है और आत्मा ही वह स्रोत है जहां से रत्नत्रय प्रकट होता है ।

ध्यानं झान समर्थं, रुद्धं तह आसवेवि दुवियप्पो ।
घाय चवक्कय मुक्कं, अप्पानं सुद्ध चेयना रूवं ॥५४५॥

◆◆◆◆◆◆

ध्यान वही दोनों आस्रव की टूटें जिसमें कड़ियां ।
चारों ही घातीय कर्म की खुल जायें फुलझड़ियां ॥
ध्यान वही जिससे भावों में वह निर्मलता आवे ।
भव भव के संताप मिटा जो मुक्ति—नगर पहुँचावे ॥

◆◆◆◆◆◆

सच्चा ध्यान वही है जो कर्मों का द्वार बन्द कर दे, चारों ही घातीय कर्मों की जो होली रच दे और जो मन को इतना पवित्र बना दे कि संसार के बन्धनों को तोड़कर साधक मुक्तिनगर का पात्र बन जावे ।

✱

सुकलं झानं झायदि, परिनामं संसार सरनि मुक्तस्य ।
सक्तिं च विक्तरूवं अयसय जयवंत सिद्धि संजुत्तं ॥५४६॥

◆◆◆◆◆◆

होते हैं जो साधु परम वे शुक्ल ध्यान को ध्याते ।
अपने आतम परमातम को वे साकार बनाते ॥
शुक्ल ध्यान से शक्ति व्यक्ति में परिणत हो जाती है ।
और सिद्ध सी युक्त-सिद्धि सब उनमें जग जाती है ॥

◆◆◆◆◆◆

जो सत्साधु होते हैं, वे शुक्ल ध्यान के ध्याता होते हैं। वे इस ध्यान से अपने परमात्मा रूप आत्मा को साकार बना लेते हैं । शुक्ल ध्यान से शक्ति व्यक्त रूप धारण कर लेती है और साधक को सिद्धों के समान ही सिद्धियां प्राप्त हो जाती हैं ।

झानं अप्प सरूवं, अप्पा परमप्प चेयनं सुद्ध' ।
झायंति ऊर्धं सुद्धं, झान समर्थ्य च सुद्ध तव यरनं ॥५४७॥

अलख अगोचर आतम का है जो सत रूप निराला ।
ध्यान नहीं कुछ और कि केवल वह अगम्य उजियाला ॥
आतम को परमातम कहकर जो उसमें रम जाते ।
साधु वही बस एक कि निर्मल ध्यान महातप ध्याते ॥

ध्यान क्या है ? अजर अमर आत्मा का ही एक प्रखर रूप है । जो आत्मा को परमात्मा मानकर उसमें रम जाते हैं वे साधु ध्यान का परम उज्वल रूप ही ध्याते हैं ।

बारह विहि उवएसं, झानं झायंति सुद्ध तव यरनं ।
जे साहंति स पुरिसा, तत्तो पुन लहै निव्वानं ॥५४८॥

श्री जिन प्रभु ने द्वादश विधि के जो तप हैं बतलाये ।
वे तप तप तब हो जब, कोई ध्यान समाधि लगाये ॥
जो तापस इन पुण्य तपों का धरते हैं उजियाला ।
पाते हैं वे मुक्ति नगर का सत शिव सुन्दर प्याला ॥

श्री जिनेन्द्र प्रभु ने जो द्वादश भांति के तप बतलाये हैं वे तप वास्तविक तप तब ही कहाते हैं, जब ध्यान के द्वारा उनकी साधना की जाये । जो तापस ध्यानमय हो इन तपों की साधना करते हैं वे निश्चय से मोक्षमार्ग के पथिक बनते हैं ।

—: सम्यक्त्व के दस भेद :—

दहविहि सम्मत्तं नय, ज्ञान उवदेश अत्थवीजंमि ।
संक्षेप सुत्त उत्तं, विवहारे अवगाहनेन सद्भावं ॥५४९॥
प्रवचन केवलि उत्तं, परमं सम्मत्त सुद्ध सद्भावं ।
दह विज्ञान सरूवं, अप्पा अप्पेन सुद्ध सम्मत्तं ॥५५०॥

******

ज्ञान और उपदेश, अर्थ औ बीज सुसमकित भाई ।
सूत्र और संक्षेप और समकित व्यवहार सुखाई ॥
अवगाहन, प्रवचन, कि परम यह दश सम्यक्त बताये ।
पर सच्चा सम्यक्त, कि आतम इस आतम को ध्याये ॥

******

१-ज्ञान, २-उपदेश, ३-अर्थ, ४-बीज, ५-सूत्र, ६-संक्षेप, ७-व्यवहार, ८-अवगाहन, ९-प्रवचन और १०-परम। ये सम्यक्त्व के दश भेद व्यवहारनय से बतलाये गये हैं। लेकिन सच्चा सम्यक्त्व तो केवल एक ही होता है, और वह है आत्मा का आत्मा के द्वारा ही ध्यान ।

❋

ज्ञानं ज्ञान सरूवं ज्ञानं नजंति मिच्छ संजुतं ।
संसार सरनि तिक्तं, ज्ञानेन ज्ञान अप्प सद्भावं ॥५५१॥

******

है बस वह हो ज्ञान, ज्ञानमय होवे जिसकी झांकी ।
दिखती हो छाया न जहां पर, मिथ्या ज्ञान भ्रमा की ॥
जिसके अंतर से न झांकती, इस भव की परछाईं ।
और ज्ञान से ज्ञान बढ़ा जो, पाता पद सुखदाई ॥

******

ज्ञान सम्यक्त्व वही, जिसकी ज्ञानमय झाँकी हो, जहाँ पर मिथ्या ज्ञान की छाया तक न दिखती हो; संसार के प्रपंच जिसमें रंचमात्र भी निवास नहीं करते हों और ज्ञान के द्वारा ज्ञान-वर्द्धन कर जो परमात्म पद को प्राप्त करा दे ।

ज्ञानं सुद्ध सहावं, रागादि दोस सयलविरयंमि ।
विरयं असुद्ध भावं, अप्पा परमप्प ज्ञान समत्त ॥५५२॥

******

आतम का सत शिव सुन्दरतम रूप जहां दिखलावे ।
रागद्वेष से दोषों का दल जिस थल दृष्टि न आवे ॥
असत अशुभ भावों का जिस थल रहता रे ! न अंधेरा ।
आतम परमातम का करता, ज्ञान वहीं कि बसेरा ॥

******

जहाँ पर आत्मा का सत्य, शिव, सुन्दर रूप दिखलाये, रागद्वेष जहां दृष्टिगोचर भी न हों तथा अशुभ परणतियों की जहां परछाईं तक न दिखे, वहीं आत्मा और परमात्मा का परम ज्ञान बसेरा करता है ।

*

उवएसं संसुद्धं, सुद्धं अप्पान अप्पनो सुद्धं ।
सुद्धं जिने हि कहियं, सुद्धं सम्मत्त सुद्ध उवएसं ॥५५३॥

******

बतलाये जो क्यों कर पायें हम आतम सांवरिया ।
दिखलाये जो श्री जिन प्रभु की परमानंद डगरिया ॥
समकित के ही सावन भादों जो फिर बरसाये ।
जिनवाणी में वह ही केवल सत उपदेश कहाये ॥

******

जो यह मर्म बताये कि हमें परमात्मारूपी आत्मा की किस तरह प्राप्ति हो, जिनेन्द्र भगवान की परमानन्द डगर हमें कैसे मिले, तथा जो सम्यक्त्व का पद पद पर वर्णन करे वही वास्तव में सम्यक् उपदेश कहलाता है ।

सुद्धं जिन उत्त परं, असुद्ध तिक्तं च सव्वहा सव्वे ।
सुद्धं उद्देस ज्ञानं, चरनं जिन उत्त उवएसं ॥५५४॥

भर भर दे जो जिन वचनों की नित्य सुधा सी प्याली ।
छावें जिस पर अश्रद्धा की घोर न बदरी काली ॥
आत्मप्राप्ति कैसे हो जिसका बस उद्देश्य यही है ।
श्री जिन चरणों का अनुयायी बस उपदेश यही है ॥

जो जिन वचनों की पीयूष के समान मधुर प्यालियाँ पिलाये, अश्रद्धा का जिसमें रंचमात्र भी अँधेरा न हो, आत्मप्राप्ति कैसे हो, जिसका बस यही पवित्र उद्देश्य हो, वही संसार में पवित्र कहा गया है ।

सुद्धं च सुद्ध ज्ञानं, असुद्ध संसार सरनि मुक्तस्य ।
सुद्धं परमानन्दं, उवएसं सुद्ध सम्मत्तं ॥५५५॥

आतम के हो शुद्ध ध्यान का जो अमृत बरसाये ।
भव, तन, भोगों से जन जन को जो नित दूर बनाये ॥
आतम ही बस परमातम है हो जिसकी यह बानी ।
वह ही है उपदेश कि कहती करुणामय जिनवाणी ॥

जो नित्यप्रति आतम के शुद्ध ज्ञान का अमृत बरसाये, भव, तन और भोगों से जो जगत के प्राण बचाये तथा आत्मा ही परमात्मा है, जिसकी यह परम पवित्र वाणी हो, वही उपदेश सम्यक्त्व है ।

अर्थंति अर्थं सुद्धं, सम सम्मत्त दंसनं सुद्धं ।
अर्थं समय ति अर्थं, उवएसं अर्थं सम्मत्तं ॥५५६॥

******

शुद्ध अर्थ को पाना ही हो जिसका लक्ष्य निराला ।
राज रही हो वक्षस्थल पर जिसके समकित माला ॥
जलती हो जिसके अंतर में रत्नत्रय की ज्वाला ।
कहते हैं जिनराज वहीं है पाया अर्थ निराला ॥

******

शुद्ध तत्व को पाना ही, जिसका परम पवित्र उद्देश्य है, सम्यकत्व की माल से जिसका वक्षस्थल सुशोभित है, रत्नत्रय जिसके अंतर में नित्यप्रति किल्लोल करता है, वही संसार में पावन कहा गया है ।

अर्थं अप्प सरूवं, अनर्थं अन्नान मिच्छ त्रियंमि ।
अनेय अनर्थं भावं, तिक्तंति जे न्नान सहकारं ॥५५७॥

******

अर्थ जिसे कहते हैं, आतम उसका रूप निराला ।
अर्थ जिसे कहते हैं, समकित उस ही का उजियाला ॥
त्याग सकल संकल्प कि जो नर, बनते ज्ञान बिहारी ।
'अर्थ' नाम समकित के होते वे ही मानव धारी ॥

******

जिसे अर्थ कहते हैं, आत्मा उसी का साकार रूप है; सम्यक्त्व उसी का प्रकाश है । जो सकल संकल्प विकल्पों को छोड़कर ज्ञानकुंज में विहार करते हैं, वे मानव अर्थ सम्यक्त्व के धारी कहाते हैं ।

अर्थं ज्ञान सरूवं, तिलोयं त्रिभुवन ति अर्थ संसुद्धं ।
विंदस्थं विंदंतो, सुद्धं सरूवं ति अर्थं सम्मत्तं ॥५५८॥

ज्ञान रूप में रमने को हो, कहते अर्थं हैं ज्ञानी ।
अर्थ उसी का शुद्ध कि जो है, त्रिभुवन का श्रद्धानी ॥
ओम् मंत्र के द्वारा जो नर, आत्म मनन करता है ।
वह ही मानव रत्नत्रयमय अर्थ परम धरता है ॥

ज्ञानरूप में रमण करने को ही अर्थ सम्यक्त्व कहते हैं । जो लोकालोक का श्रद्धानी है अर्थ उसी का शुद्ध है । जो नर ओम् मंत्र के द्वारा आत्ममनन करता है वही रत्नत्रय मय 'अर्थ' सम्यक्त्व को धारण करता है ।

बीजं च ज्ञान सुद्धं, सुद्धप्पा ज्ञान दंसन समग्गं ।
चरनं दुविहि सहावं, सहकारे तव सुद्ध वीर्यंमि ॥५५९॥

मोक्षमार्ग का ज्ञान ममल ही समकित बीज है ज्ञानी ।
और ज्ञान क्या, रत्नत्रययुत आतम पद विज्ञानी ॥
दो विधि का चरित्र, और जो तप पालन करते हैं ।
वे ही नर बस 'बीज' नामके समकित को धरते हैं ॥

मोक्षमार्ग का जो ज्ञान है, उसी का नाम 'बीज' सम्यक्त्व है । और ज्ञान क्या है ? रत्नत्रय मय आतम का पुनीत पद ही । जो दो प्रकार का चरित्र और द्वादश प्रकार के तपों का साधन करते हैं, वे ही नर बीज सम्यक्त्व को धारण करते हैं ।

देव गुर धम्म सुद्धं, मिथ्या कुन्यान सयल विरयंमि ।
संसार सरनि विरयं, वीयं सम्मत्त सुद्धमप्पानं ॥५६०॥

देव, धर्म, गुरु इन तीनों के, बनना श्रद्धाधारी ।
रागद्वेष कुज्ञान कि बनना, इन सब के परिहारी ॥
भव तन भोगों से न रंच भी, रखना अपना नाता ।
यह ही बस शुचि निश्चयनय से समकित 'बीज' कहाता ॥

देव, धर्म और गुरु इन तीनों में प्रगाढ़ श्रद्धा रखना, रागद्वेष और कुज्ञान इनको पूर्ण रूपेण त्याग देना और भव, तन और भोग इन तीनों की ममता से निस्पृह हो जाना, बस इसी को बीजसम्यक्त्व कहते हैं।

संषेप सुद्धमइओ, सुयं षिपति नंत संसारे ।
कम्ममल षिपति भावं, ज्ञान सहावेन सुयं संक्षेपं ॥५६१॥

कहते हैं 'संक्षेप' उसे जो, यह संसार नसावे ।
कर्मों को कर चूर्ण कि जो जन जन को मुक्त बनावे ।
ऐसा वह 'संक्षेप' शुद्धतम, आतम ही है भाई ।
कर्ममलों को काट कि करता जो सब भांति भलाई ॥

'संक्षेप' सम्यक्त्व उसे कहते हैं, जो जीवन मरण के रोग को नष्ट कर दे; कर्मों का चूर्ण बनाकर जन जन के बन्धन काट दे। ऐसा वह 'संक्षेप' सम्यक्त्व केवल आत्मा ही है।

दंसन ज्ञान सहावं, अप्प सहावेन सुद्ध सद्भावं ।
सुद्धं सुद्ध सरूवं, सम्मत्तं सुद्ध ममल संषेपं ॥५६२॥
सूत्रं सुद्ध सहावं, संसूत्रं सास्वतेन चेयनाभावं ।
विकहा वसन असूत्रं, संसारे सरनि सयल विरयंमि ॥५६३॥

ज्ञान और दर्शन दोनों का, जिसमें नित्य सवेरा ।
ऐसे आतम में निशि वासर, करना रैन बसेरा ॥
या अपने ही वृन्दावन के बनना आप विहारी ।
कहते हैं 'संक्षेप' इसी को श्री जिन करुणाधारी ॥

जिसमें ज्ञान और दर्शन दोनों का निवास है, ऐसे आत्मा में नित्य प्रति रमण करना या अपने ही आत्म-कुञ्ज के विहारी बनना इसी को 'संक्षेप' सम्यक्त्व कहते हैं ।

सूत्रं जं जिन कहियं, तं सूत्रं सुद्ध भाव संकलियं ।
असूत्रं नहु पिच्छदि, सूत्रं ससरूव सुद्ध मप्पानं ॥५५४॥

आतम का जो शुद्ध रूप है, 'सूत्र' वही है प्यारे !
और 'सूत्र' यह है कि आतम से होना नेक न न्यारे ॥
सप्त व्यसन, चारों विकथायें, यह संसार दुखारी ।
हों न जहां पर, 'सूत्र' वहीं पर होता है सुखकारी ॥

आत्मा का जो शुद्ध रूप है, वही सूत्र सम्यक्त्व है । क्योंकि सूत्र नाम सम्बन्ध का है । आत्मा से नित्यप्रति सम्बन्ध बनाये रखना, उसके स्वभाव में रमण करना और विभाव जैसे सप्त व्यसन, चारों विकथायें और यह दुखपूर्ण संसार इनको छोड़ देना, इसी का नाम वास्तव में सूत्र सम्यक्त्व है ।

विवहारं सम्मत्तं, देव गुर सुद्ध धम्म संजुत्तं ।
दंसन ज्ञान चरित्तं, मलमुक्कं विवहार सम्मत्तं ॥५६५॥

••••••

देव, धर्म, गुरु इन तीनों में, निश्चल श्रद्धा धरना ।
दर्शन, ज्ञानाचार कि इनको, दोष रहित आचरना ॥
सर्व मलों से हीन कि यह है, वह समकित सुखदाई ।
कहते हैं व्यवहार सुसमकित जिसको श्री जिनराई ॥

••••••

देव धर्म और गुरु में निश्चल श्रद्धा रखना, दर्शन, ज्ञान और आचरण इन तीनों को निर्दोष पालन करना, बस यही व्यवहार सम्यक्त्व है ।

✱

ज्ञानेन ज्ञान दिट्ठं, कुज्ञानं मिच्छ असुह विरयंमि ।
विरयं सुह असुहं च, विवहारं सुद्धमप्पानं ॥५६६॥

••••••

ज्ञान दृष्टि से नित्य निरन्तर, करना ज्ञान कमाई ।
और न मिथ्या पथ से करना, मूल कि प्रेमसगाई ॥
अशुभ और शुभ परिणामों से, रहना एक किनारे ।
कहते हैं 'व्यवहार' सुसमकित, इस ही को जिन प्यारे ॥

••••••

नित्य प्रति ज्ञान में आचरण करना, मिथ्यात्वों के कभी पास भी न जाना तथा शुभ अशुभ परणतियों से सदा दूर रहना, इसी को वास्तव में व्यवहार सम्यक्त्व कहते हैं । उस शुभ परिणति में भी वीतरागता झलकती रहे । और पुण्योदयजन्य सुख भोगों में आशक्ति न रहे । ऐसी शुभ परिणति उपादेय है ।

अवगाहन संमत्तं, अवगाहइ अंग पुव्व वित्थरणं ।
अवगहै सुद्ध भावं, सुद्धं च असुद्ध विवरीदो ॥५६७॥

जो एकादश अंग और चौदह पूरब को जाने ।
अंग और पूरब मय हो जो, आतम को पहिचाने ॥
अशुभ और शुभ परिणामों का जो होवे परिहारी ।
'अवगाहन' समकित का होता, वह ही मानव धारी ॥

जो ग्यारह अंग और चौदह पूर्व को जाने तथा उनको जानता हुआ जो आत्मा को पहिचाने । जो अशुभ और शुभ दोनों परिणामों का त्यागी हो उसे ही श्री जिन प्रभु अवगाहन सम्यक्त्व का धारी कहते हैं ।

अवगाहइ सुद्ध झानं, आरति रौद्रं च सयल विवरीदो ।
अवगहइ अप्प अप्पं, सम्यक्‌दंसनं च अवगहनं ॥५६८॥

आर्त रौद्र दोनों ध्यानों से, अपना मन बिलगाना ।
मोक्ष प्रदायक शुद्ध ध्यान से, अपना देह लगाना ॥
और कि अपने आप निरखना, अपनी ही फुलवारी ।
कहती 'अवगाहन' इस ही को, श्री जिनवाणी प्यारी ॥

आर्त और रौद्र इन दोनों ध्यानों से अपने मन को बिलग कर देना तथा शुद्ध ध्यान से ही अपना मन लगाकर, अपने आप में ही रमण करना, बस इसी को 'अवगाहन' सम्यक्त्व कहते हैं ।

पदस्तं पिंडस्तं, रूवस्तं रूवातीत झानत्थं ।
अवगहे धम्म सुक्कं, अवगाहन ज्ञान झान संमत्तं ॥५६९॥

पाद, पिंड, रूपस्थ और जो रूपातीत मगन है।
धर्म शुक्ल ध्यानों का करता, जो नित अवगाहन है॥
समकित के कुंजों में वह ही मानव रास रचाता।
'अवगाहन' समकित का धारी, बस वह ही कहलाता॥

जो पादस्थ, पिंडस्थ, रूपस्थ तथा रूपातीत इन चारों ध्यानों का धारी होता है, धर्म और शुक्ल ध्यानों के जल में ही जो नित्य अवगाहन करता है तथा सम्यक्त्व के कुंज में ही जो नित्य प्रति विहार करता है, वही मानव अवगाहन सम्यक्त्व का धारी होता है।

प्रवचने केवलिनं, जं उत्तं केवलि नन्तदिष्टि संदिट्ठं ।
तं वयन सुद्ध वयनं, असुद्ध वयनं पि मयल विपरीदो ॥५७०॥

अजर अमर हो गये कि जिसको, पीकर केवलज्ञानी।
और कि जिसको धार जगत में, कहलाई जिनवाणी॥
ऐसा वह सम्यक्त्व, न जिसमें हो दोषों की छाया।
जिनवाणी में 'प्रवचन केवलि, समकित है कहलाया॥

जिसके जल को पीकर केवलज्ञानी अजर अमर बन गये, जिसको ही धार संसार में जिनवाणी के नाम से प्रख्यात हुई जो दोषों से सर्वथा रहित है, ऐसा वह सम्यक्त्व ही 'प्रवचन केवलि' सम्यक्त्व कहलाता है।

जं केवलि उवएसं, तं वयनं शुद्ध सार्धं निश्चयं ।
तं आलाप चवंतं, जं केवल ममल केवलं सुद्धं ॥५७१॥

••••••

बरसाते हैं जिन बोलो को जग में केवलज्ञानी ।
उन बोलों में गुम्फित रहती, है शाश्वत ध्रुववाणी ॥
दिव्य ध्वनि में सुन पड़ती है, जो स्वर लहरी बांकी ।
सत् शिव, सुन्दर शुचि समकित की, दिखती उसमें झांकी ॥

••••••

जिन वचनों को जगतीतल पर केवल ज्ञानी बरसाते हैं, उनमें जिनराज की शाश्वत ध्रुव वाणी गुम्फित रहती है । समोसरण में भगवान जो दिव्य ध्वनि बिखेरते हैं, उसमें वही सत् शिव सुन्दर सम्यक्त्व की मनोहर झांकी देख पड़ती है ।

❖

परमं सम्मत्त उत्तं, परमं ज्ञानस्य परम भत्तीए ।
परमं परमप्पानं, अप्पा परमप्प केवलं सुद्धं ॥५७२॥

••••••

श्रेष्ठ भक्ति के साथ जो होता, श्रेष्ठ ज्ञान का धारी ।
परम श्रेष्ठ समकित की खिलती, उस ही में फुलवारी ॥
ऐसा मानव होता है बस, जन गन मन हारी ।
अष्ट मदों को जीत कि बनता जो अक्षय सुखकारी ॥

••••••

श्रेष्ठतम भक्ति के साथ, जिसमें श्रेष्ठ ज्ञान का सद्भाव रहता है, उसी में परम सम्यक्त्व सर्वोत्तम शोभा पाता है । ऐसे सम्यक्त्व का धारी वही श्रेष्ठ पुरुष होता है, जो अष्ट मदों को जीतकर अक्षय सुख का पात्र बनता है ।

परमं परमप्पानं, अप्प सरुवं च सुद्ध मप्पानं ।
रागादि दोष विरयं, झानं झायंति परम सम्मत्तं ॥५७३॥

******

होते हैं जो श्रेष्ठ परम ध्रुव, निर्मल समकितधारी ।
अगम अगोचर नील-सिंधु सो समता के भण्डारी ॥
सिद्ध प्रभो ऐसे आतम के ही होते उजियाले ।
राग दोष से हीन, ध्यान में रहते वे मतवाले ॥

******

जो परम सम्यक्त्व के धारी होते हैं, उनमें उत्कृष्ट समता का निवास होता है। उनके आत्मा में निरंतर परमात्मा साकार डोलता है और सर्वदोषों से रहित होकर वे निरंतर ही ध्यान में मतवाले रहा करते हैं।

सम्मत्तं उवएसं, दहविहि संमत्त अप्प अप्पानं ।
अप्पा सुद्धप्पानं, परमप्पा लहै निव्वानं ॥५७४॥

******

दशविधि के सम्यक्त्व बताये जो जिन ने हे भाई ।
वैसे ही उनके कि बताये, मैंने रूप सुहाई ॥
समकित का यह सार कि आतम ही परमातम प्यारे ।
आतम ही निर्वाण प्राप्त कर, होता है भव-पारे ॥

******

जिनराज ने जो दस प्रकार के सम्यक्त्व बतलाये हैं, मैंने उन्हीं का संक्षेप में यहां रूप बताया है। इन सब भेदों का सार केवल एक ही है और वह यह है कि आत्मा ही परमात्मा है और यह आत्मा ही निर्वाण प्राप्त कर संसार से उस पार होता है।

द्वादश अविरतभावः

पंच इन्द्री संवरनं, रागादि दोसं च वियष संवरनं ।
मन गाख संवरनं, थावर रक्षा च संयमं सुद्धं ॥५७५॥

पंचेन्द्रिय को और कि मन के नरपति को बश करना ।
रागद्वेष विषयों की इच्छा, मनमें नेक न धरना ॥
षटकायी जीवों को करना और कि रक्षा भाई ।
होता है बस यह ही बारह अवरित त्याग सुखाई ॥

पंचेन्द्रिय और मन को वश में करना-रागद्वेष व विषयों की इच्छा से निस्पृह होना तथा षटकाय के जीवों की रक्षा करना, यही बारह अविरत त्याग व्रत होते हैं ।

जिह्वा स्वाद असुद्धं, स्वादं पंचभेय विरयंमि ।
विरयं असुद्ध भावं, स्वादं पंचज्ञान ममल विस्तरनं ॥५७६॥

जिह्वा के जो पंच भेदमय स्वाद कि हैं हे भाई ।
वे सारे ही स्वाद असत हैं, और कि हैं दुखदाई ॥
पंच स्वाद तज पंच ज्ञान से, रखना अपना नाता ।
यह ही इस जिव्हा इन्द्रिय का, स्वाद त्याग कहलाता ॥

जिह्वा इन्द्रिय के जो खट्टे, मीठे, आदि पांच स्वाद हैं वे स्वाद झूठे तथा क्षणिक हैं । इन झूठे स्वादों को तजकर, पंचज्ञान के स्वाद लेना, यह ही जिह्वा इन्द्रिय का स्वाद त्याग व्रत कहलाता है ।

कुज्ञान वयन तिक्तं, कुच्छिय आलाप मिच्छ विरयंमि ।
वयनं जिन उवएसं, सुद्ध सरूवं च वयन उवएसं ॥५७७॥

******

होवें जो मानव जिह्वा के स्वाद त्याग के धारी ।
कुत्सित आलापों के भी वे, बन जावें परिहारी ॥
जिव्हेन्द्रिय का स्वाद त्याग यह तब ही त्याग कहाता ।
जब जिनका उपदेश कि निर्मल उस पर शोभा पाता ॥

******

जो मानव जिह्वा इन्द्रिय के स्वाद त्याग का व्रत ग्रहण करते हैं, उन्हें उचित है कि वे कुत्सित वचनों का भी त्याग कर दें, क्योंकि यह स्वाद त्याग तब ही सच्चा स्वाद-त्याग व्रत कहलाता है, जब जिह्वा के ऊपर कुत्सित वचन न आकर श्री जिनेन्द्रदेव के वचन शोभा पावें ।

✸

असुद्धं न चंवतो, रागादिदोस असत्य विरयंमि ।
इन्द्री विरय अतींद्री, अतींद्री ज्ञान स्वाद स सहावं ॥५७८॥

******

जिव्हेन्द्रिय के अग्र भाग पर अशुभ वचन ना लाना ।
रागादिक से और असत् से, अपना पथ विलगाना ॥
पंचेन्द्रिय को त्याग, कि मनुआ निज आतम में खोना ।
जिह्वा के स्वादों का होता, यह हो त्याग सलोना ॥

******

जिह्वा इन्द्रिय के अग्र भाग पर अशुभ वचनों का न लाना, रागादिक और असत भावों से अपने मन को हटाना तथा पंचेन्द्रिय के भोगों को छोड़कर आत्मा के कुन्ज में ही मन रमण करना यह ही वास्तव में जिह्वा का स्वाद-त्याग होता है ।

स्पर्सन इन्द्रि असुद्धं, मयमत्त अबंभ भाव विरयंति ।
विरयं परिनाम असुद्धं, सुद्धं भावं च अतींद्रियं सुद्धं ॥५७९॥

******

स्पर्शन इन्द्रिय की लिप्सा, होती है दुखदाई ।
इससे ज्ञानीजन विषयों की राह न जाते भाई ॥
अशुभ भाव को त्याग कि अपने आतम में पग जाना ।
सत्पुरुषों ने स्पर्शेन्द्रिय 'त्याग' इसी को माना ॥

******

स्पर्शन इन्द्रिय की लिप्सा अत्यन्त ही दुखदाई होती है, इससे ज्ञानीजन इस लिप्सा के कभी भी दास नहीं बनते । अशुभ भावों को तजकर अपने आत्मा में ही लीन हो जाना, इसी को ज्ञानियों ने वास्तविक जिह्वा इन्द्रिय त्याग माना है ।

*

घ्रानेन्द्री गंध सुगंधं, संसारे सरनि घ्रान विरयंमि ।
घ्रानं अप्प सहावं, सुद्धं स सरूव घ्रान अति इंद्री ॥५८०॥

******

गन्ध सुगन्धों की घ्राणेन्द्रिय घर है मेरे भाई ।
रागद्वेष से वह नित करती, गहरी भव की खाई ॥
पुद्गल तजकर जो आतम की, लेते सौरभ प्यारी ।
होते हैं बस वे ही मानव, घ्राणेन्द्रिय परिहारी ॥

******

घ्राणेन्द्रिय गन्ध और सुगन्धों की निधान है और इससे रागद्वेष के बन्धों की कारण है। पुद्गलों की सुगन्ध तजकर जो निरन्तर अपने आत्मा की ही निर्मल सौरभ लेते रहते हैं, वही ज्ञानी घ्राणेन्द्रिय का घ्राणत्याग व्रत धारण करते हैं ।

दिट्ठदि असुद्ध भावं, दिट्ठदि पंचवरन असुद्द अवियारं ।
तिक्तंति भावं असुहं, दिट्ठदि सुद्ध दंसनं ममलं ॥५८१॥

++++++

होते हैं जो भी इस जग में, नेत्रेन्द्रिय अभिलाषी ।
रमते वे नित पंचरंग में, तज आतम अविनाशी ॥
अशुभ भाव को तज देते पर, नेत्रेन्द्रिय के त्यागी ।
अंतरंग दर्शन के ही वे, रहते हैं अनुरागी ॥

++++++

जो नेत्रेन्द्रिय के अभिलाषी होते हैं, वे नित्य निरन्तर पंच वर्णों के ही संसार में रमण किया करते हैं, लेकिन जो नेत्रेन्द्रिय का दमन कर देते हैं, वे संसार की असत् वस्तुओं में मन न रमाकर निरंतर अपने अंतरंग में बसे भगवान में ही अपना चित्त रमाया करते हैं ।

*

दिट्ठदि ज्ञान सहावं, दिट्ठदि ज्ञान पंच विज्ञानं ।
दिट्ठदि चरन सरूवं, अप्पा परमप्प अतिन्द्रिया दिट्ठी ॥५८२॥

++++++

होते हैं जो नेत्रेन्द्रिय के, विजयी तत्व ज्ञानी ।
दिखता है उनको नित प्रति बस, आतम केवल ज्ञानी ॥
आतम ही उनके नयनों का, होता लक्ष्य परम है ।
होता उनका मंत्र यही 'बस आतम परमातम' है ॥

++++++

जो नेत्रेन्द्रिय पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, उनको अपने आत्मा के नित्य प्रति केवल ज्ञानी के ही रूप में दर्शन हुआ करते हैं । उनके नेत्रों के आनंद का विषय बस उनका आत्मा ही होता है और आत्मा ही परमात्मा है, बस यही उनका मुख्य मंत्र होता है ।

स्त्रोतं स्त्रवन असुद्धं, सब्दं सप्तंमि असुद्ध विरयंमि ।
सब्दं ज्ञान सरूवं, जिन उत्तं स्त्रवन सुद्ध सद्दहनं ॥५८३॥

स्त्रोतेन्द्रिय जड़ सप्तस्वरों में, करते विचरण भाई ।
और कि वे इस भांति बढ़ाते, जन्म मरण की खाई ॥
ज्ञान सबद ही सुनते इससे, नित प्रति तत्व ज्ञानी ।
उनके स्त्रवनों को भाती है बस प्यारी जिनवाणी ॥

जो मूढ़ पुरुष रहते हैं वे अपने कानों का उपयोग सप्तस्वरों के सुनने में लगाते हैं और इस भाँति वे अपने संसार को बढ़ाया करते हैं, किन्तु ज्ञानी पुरुष उनका उपयोग केवल जिनवाणी के कथन में ही करते हैं ।

असुद्ध सब्द तिक्तंति, संसारे सरनि सब्द तिक्तं च ।
सब्दं सुद्ध विसुद्धं, ज्ञानमयं सब्द सुद्ध अतिइन्द्री ॥५८४॥

होता है स्त्रोत्रेन्द्रिय विजयी, जो मानव बड़भागी ।
हो जाते हैं स्त्रवन कि उसके, अशुभ वचन के त्यागी ।
भव के पोषक बोल न उसको देते कोई पीड़ा ॥
आतम के ही बोलों में वे, करते नित प्रति क्रीड़ा ॥

जो श्रेष्ठ पुरुष स्त्रोत्रेन्द्रिय पर विजय प्राप्त कर लेते हैं, वे अशुभ वचनों के भी त्यागी हो जाते हैं । संसार के बढ़ाने वाले अशुभ वचन फिर उन्हें कोई पीड़ा नहीं देते और आतम के बोलों में ही वे नित्य प्रति क्रीड़ा करते रहते हैं ।

पंचेन्द्रि संवरनं, पंचविंष भाव विषय संवरनं ।
पुग्गल सुभाव विरयं, ज्ञान सहावेन अतींद्रिया सव्वे ॥५८५॥

******

इन्द्रिय विषयों से सम्बन्धित, भाव कि जो दुखदाई ।
उन सबसे मन दूर हटाना, संयम यह ही भाई ॥
जो जो भी पुद्गल उन सबसे, तजना अपना नाता ।
और कि बस आतम में रमना, संयम यह ही भ्राता ॥

******

इन्द्रिय विषयों से सम्बन्धित जितने भी विषय हैं, उन सबसे मन हटा लेना यही संयम कहलाता है या जो जो पुद्गल पदार्थ हैं, उनसे नाता तजकर आत्मा में ही रमण करना, इसी को संयम कहते हैं ।

*

पुग्गल विषयं जानदि, हलुवं गरुवं च रुक्ख चिक्कनयं ।
तप्तं सीत सुभावं, कठिनं कोमल असुद्ध विरयंमि ॥५८६॥

******

यह रूखा है यह चिकना है, यह हलका यह भारी ।
यह शीतल यह तप्त, कठिन यह, यह कोमल सुखकारी ॥
ऐसे भावों में ही यह मन नित्य प्रति गोते खाता ।
इस मन का निग्रह करना ही, 'मन संवर' कहलाता ॥

******

यह पदार्थ रूखा है, यह चिकना है, यह हलका है यह भारी है, यह शीतल है, यह गरम है आदि भावों में ही यह मन नित्यप्रति गोते खाया करता है । इस मनको इन भावों में जाने से रोकना, यही मनसंवर कहलाता है ।

विज्ञानं जानंतो, हलुवं कम्मं विमुक्क संसारे ।
गरुवं च कम्म भारं, तं विरयं सुद्ध ज्ञान सहकारं ॥५८७॥

◆◆◆◆◆◆

हलकी कोई वस्तु नहीं है, इस धरती पर भाई ।
हलकी है यदि वस्तु कि कोई, तो कर्मों की जाई ॥
गरु भी कोई वस्तु नहीं है, गरु तो कर्म ही ज्ञानी ।
हलके गरु की करते यह ही परिभाषा विज्ञानी ॥

◆◆◆◆◆◆

इस संसार में यदि कोई वस्तु हलकी है तो कर्म और यदि कोई भारी वस्तु है तो वह भी कर्म । सारांश यह है कि कर्म नीच होने से हलके हैं और मनुष्यों का भव भव रुलाते हैं इस दृष्टि से भारी भी हैं । हलके और भारी की ज्ञानीजन बस यही परिभाषा करते हैं ।

✱

रुषन ज्ञान सहावं, चिक्कन घन कम्म सयल विरयंमि ।
ज्ञान सहावं जानदि, असरीरं ज्ञान निम्मलं सुद्धं ॥५८८॥

◆◆◆◆◆◆

ज्ञान रुक्ष है, रुक्ष जगत में और न कोई भाई ।
और अगर चिकना कोई तो, कर्म कि वह दुखदाई ॥
जिनके अंतर में बसती है, सत् चित मूर्तिरमा की ।
रुक्ष और चिकने की विखती, उनको यह ही झांकी ॥

◆◆◆◆◆◆

अगर संसार में कोई वस्तु रुक्ष है तो वह ज्ञान और यदि कोई चिकनी है तो वह कर्म । रुक्ष और चिकने की ज्ञानदृष्टि से बस यही परिभाषा है ।

उन्हं च कम्म उइनं, सीयं संसार भाव तिक्तं च ।
कठिनं परिनाम विलयं, कोमल परिनाम अप्प ससरुवं ॥५८९॥

******

कर्मों का जो ताप न उससा, उष्ण कि कोई प्यारे ।
और नहीं इससी शीतलता "जग से हो ओ न्यारे"
कटु परिणामों को क्षय करना, इससी ना कटुताई ।
और कि आतम के भावों सी और न शीतलताई ॥

******

कर्मों के ताप सी दूसरी कोई उष्णता नहीं है, और संसार से उदासीन होने के समान दूसरी कोई शीतलता नहीं है । कटु परिणामों को क्षय करना इसके समान कोई कटुता नहीं है और आतम के भावों के समान कोई शीतलताई नहीं है ।

*

गुन दोसं विज्ञानं, जानदि ज्ञानेन दव्व पज्जायं ।
विज्ञानं ज्ञान सहावं, असरीरं ममल अप्पनो सुद्धं ॥५९०॥

******

मन का क्या उपयोग ? कि वह नित गुण दोषों को जाने ।
और ज्ञान बल से द्रव्यों की पर्यायें पहिचाने ।
पंचज्ञान से वह न कभी भी, होवे मूल न न्यारा ।
और सदा आतम में देखे, वह परमातम प्यारा ॥

******

मन का वास्तविक उपयोग यह है कि वह गुण दोषों को जाने, ज्ञानबल से द्रव्यों की पर्यायें पहिचाने, पंचज्ञान से कभी भी न्यारा न हो और सदा आत्मा में परमात्मा के दर्शन करता रहे ।

पुग्गल सुभाव जाने, संवरनं सव्व ममल ज्ञानस्य ।
तम्हा मन संजमनं, अप्पा परमप्प सुद्ध मन धरनं ॥५९१॥

++++++

मन का यह उपयोग कि वह इस पुद्गल पर को छोड़े ।
ज्ञान पिण्ड आतम से अपना और कि नाता जोड़े ॥
आतम परमातम की धुन में रहता जो मतवाला ।
बस उस ही मन में जगता है संयम का उजियाला ॥

++++++

मन का उपयोग है कि वह पुद्गल या पर पदार्थ को छोड़, ज्ञान के पिण्ड आत्मा से ही अपना नाता जोड़े । जो सदा आतमा परमात्मा की धुन में मतवाला रहता है, उसी मन में संयम का प्रकाश होता है ।

✱

मन संजमनं उत्तं, असुहं परिनाम सयल विरयंमि ।
विरयं मिच्छ सुभावं, विरयं संसार सरति दुक्खानं ॥५९२॥

++++++

इस जगती तल पर जितने हैं, भाव अशुभतम काले ।
और कि इस पर बहते जितने, कुज्ञानों के नाले ॥
उन सबसे निज चित्त हटाकर, जग से तोड़े नाता ।
कहते श्री जिन एक कि यह ही, मन संयम कहलाता ॥

++++++

इस संसार में जितने अशुभ भाव हैं और जितने कुज्ञान हैं उन सबसे अपना चित्त हटा लेना, बस इसी को मन संयम कहते हैं ।

रागादि दोष विरयं, विरयं ममत्त पुण्य पापं च ।
परिनाम असुह विरयं, इंद्री विषयं च सव्व विरयंमि ॥५९३॥

जगती तल पर झूम रहे, जो रागद्वेष मतवाले ।
और थिरकते पुण्य पाप के, जो पद पद पर प्याले ॥
पंचेन्द्रिय के विषय भयंकर, भाव अशुभ दुखदाई ।
इन सबको तृणवत तजना हो, बस मनसंयम भाई ॥

रागद्वेष, पुण्य-पाप, पंचेन्द्रिय के भयावने विषय तथा समस्त प्रकार के अशुभ भाव इन सबको तृण के समान छोड़ देना, बस यही मन संयम कहलाता है ।

रहयं सुद्ध सहावं, अप्पा परमप्प निम्मलं सुद्धं ।
रहयं दंसन ज्ञानं, चरित्तं चरन रहय विविहं च ॥५९४॥

"अपना आतम परमातम सा निर्मल है पावन है" ।
करता है जो नित्य निरन्तर अनुभव ऐसा मन है ॥
और कि ऐसा अनुभव कर जो, निज में ही रमता है ।
उस निश्चल मन में ही रहती, संयम की क्षमता है ॥

जो मन नित्य निरन्तर इस आत्मा को परमात्मा के समान अनुभव कर उसमें सदा ही रमण किया करता है, उसमें ही संयम धारण करने की अपूर्व क्षमता रहती है ।

सम्मत्त सुद्ध भावं, ज्ञान सहावेन विमल भावं च ।
मलमुक्कं दंसन धरनं, ज्ञानं वर्तेय मनं च संवरनं ॥५९५॥

******

आतम के हो कृष्ण कन्हैया से नित रास रचाना ।
और ज्ञान में हो दृढ़ होकर, इस जग से खो जाना ॥
दोष रहित सम्यग्दर्शन के बनना निश्चल धारी ।
कहलाता है बस यह तप ही मन संयम सुखकारी ॥

******

सदा आतम के कुंज में विहार करना, ज्ञान में दृढ़ होकर जग से निस्पृह हो जाना तथा दोष रहित सम्यग्दर्शन के निश्चल पुजारी बनना, बस इसी तप को, मन संयम कहते हैं ।

*

थावर रष्या सहियं, असुहं भावं च सयल तिक्तं च ।
मैत्री कृपा स उत्तं, षटकायी रष्यना सुद्धं ॥५९६॥

******

तज करके हिंसा के सारे, भाव अशुभ दुखकारी ।
सर्व प्राणियों को करते जो, रक्षा करुणाधारी ॥
मैत्री की जलधार जगत पर, वे ही बरसाते हैं ।
और प्राण संयम के धारी, वे ही कहलाते हैं ॥

******

जो हिंसा के सारे दुखदाई भाव तजकर, सर्व प्राणियों की निरन्तर रक्षा करते हैं, वे ही संसार में मैत्री की भावना का पोषण करते हैं और वही नर श्रेष्ठ प्राण संयम के धारी कहलाते हैं ।

गुनवंतोय प्रमोदं, अवरे सव्वस्समित्ती कृपानं ।
सुद्ध सहावं पिच्छदि, षटकाई रष्यना हुंती ॥५१७॥

++++++

गुणवन्तों को देख कि जिनको होता मोद अतुल है ।
और जगत पर रहती जिसको अनुकंपा कि विपुल है ॥
अपने ही सत शुद्ध रूप, को, दृग में जो धरता है ।
वह ही षटकायो जीवों को, बस रक्षा करता है ॥

++++++

गुणवानों को देखकर जो फूला नहीं समाता, जो विपुल अनुकम्पा का धारी होता है तथा जो नित्य प्रति अपने ही सत् चित् आनन्द शुद्ध स्वरूप का अनुभव किया करता है, वही प्राणी षटकाय जीवों की रक्षा करता है ।

❋

बारह अव्रत कहियं, सुद्धं भावं च ममल ज्ञान संवरनं ।
सुद्ध सरूवं पिच्छदि, ज्ञान सहावेन सयल संवरनं ॥५१८॥

++++++

इस प्रकार जिन ने बतलाये, बारह अविरत भाई ।
शुद्ध भाव में तिष्ठ कि उनका, निग्रह हो सुखदाई ॥
शुद्ध आत्म सद्भाव रूप का, जो अनुभव करता है ।
द्वादश अविरत त्याग कि वह नर निश्चय से धरता है ॥

++++++

इस प्रकार श्री जिनेन्द्र भगवान ने बारह अविरत बतलाये हैं । इनका शुद्ध भाव से नित्य प्रति अनुभव करना चाहिये । जो पुरुष शुद्धात्मा का नित्य निरंतर अनुभव करता है वही द्वादश विरतों को निश्चय से धारण करता है और अविरतों का त्यागी होता है ।

तेरह विधि चारित्र

तेरह विहस्य चरनं, महाव्रय गुप्ति पंच तेनोया ।
समिदि पंच विहूवं, चरित्तं उवएसनं तंपी ॥५९९॥

होते हैं जो साधु दिगम्बर, निस्पृह जन जन हितकारी ।
होते हैं चारित्र कि उनके, तेरह विधि सुखकारी ॥
पंच महाव्रत, पंच समितियें, तीन गुप्तियें प्यारे ।
होते ये चारित्र अमोलक, निर्ग्रंथों के न्यारे ॥

(१) पंच महाव्रत (२) पंच समितियें और (३) तीन गुप्तियें, ये निर्ग्रंथ साधु के १३ प्रकार के चरित्र होते हैं ।

हिंसा नृत अस्तेयं, बंभं परिग्रहं पंच नय सुद्धं ।
जे पालंति विसुद्धं, चरित्तं चरन सुद्ध संजुत्तं ॥६००॥

हिंसा, चोरी, झूठ, परिग्रह और कुशील कि दुखकारी ।
तज देते ये पंच पाप जो होते, धर्म धुराधारी ॥
शुद्ध आचरण का बस वे ही, मानव पालन करते हैं ।
और महाव्रत पंच कि वे ही नर पुद्गल आचरते हैं ॥

जो धर्म की धुरा धारण करने वाले होते हैं, वे हिंसा, चोरी, झूठ, कुशील और परिग्रह, इन पांच-पापों को पूर्ण रूपेण त्याग देते हैं और नित्य प्रति शुद्ध आचरण का पालन करते हैं यही पंच पाप त्याग साधुओं के पंच महाव्रत कहलाते हैं ।

हिंसा असत्य सहियं, अनृत ऋतं न जानदि सुद्धं ।
स्तेयं पद लोपं, बंभं च अबंभ तिक्तं च ॥६०१॥
पर पुग्गल परमानं, पुग्गल ग्रहनं असेष संबरनं ।
भाव दुतिय संजोय, पिच्छंतो लहई निव्वानं ॥६०२

✦✦✦✦✦

अनृत भाव सारे हिंसा हैं और अनात्म असत्य सुजान ।
आत्म लोप अस्तेय और बस है अब्रह्म कुशील महान ॥
पर पद में आसक्ति, परिग्रह कहते इस ही को विद्वान ।
आतम में हो रत रहता जो, पाता वह ही पद निर्वाण ॥

✦✦✦✦✦✦

जितने भी असत्य भाव हैं, वे सारे हिंसा की संज्ञा में आते हैं, जो जो भी अनात्म पद हैं वे सब असत्य हैं, आत्मा के पद का लोप करना यही चौर्य है, अब्रह्म में रमण करना यही कुशील और आत्मा को छोड़कर, अनात्म पद में आने वाली वस्तुओं में आसक्ति रखना, इसी का नाम परिग्रह है ।

आत्मा के सिवा, जो अन्य वस्तुओं में राग नहीं रखता है, वही निर्वाण पद को प्राप्त होता है ।

✱

जं च महावय धरनं, तद्भव संसार कम्म विमुक्कं ।
पुग्गल प्रमाण सुद्धं, अप्पा परमप्प लहइ निव्वानं ॥६०३॥

✦✦✦✦✦✦

निरारंभ, निर्ग्रन्थ, साधु जो पंच महाव्रत धरते हैं ।
वे अपने बैरी कर्मों का ध्वंस सहज में करते हैं ॥
उनकी काया का प्रमाणधर, उनका आतम अविनाशी ।
बन जाता है उसी जन्म में, शुद्ध सिद्ध शिवपुर वासी ॥

✦✦✦✦✦✦

जो निर्ग्रन्थ साधु पंच महाव्रत धारण करते हैं उनकी महान आत्मा, उसी भव में, अपने शरीर के प्रमाण का आकार धर, शुद्ध सिद्ध परमात्मा होकर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है ।

मनगुप्ती उवएसं, मन असुहं च असुद्ध परवेसं ।
मन परिनै तिक्तं च, मन सुद्धप्पा प्रवेश मिलियं च ॥६०४॥

******

चंचल मन का यह स्वभाव, वह थिरता नेक न धरता है ।
जो अशुद्ध उपयोग, कि उसमें ही वह नित्य विचरता है ॥
ऐसे पुद्गलमय मन को जो, आतम रूप बनाती है ।
चेतन की वह परिणति ही बस, मनोगुप्ति कहलाती है ॥

******

मन का यह स्वभाव है कि वह अशुद्ध और अशुभ परिणतियों की ओर स्वभावतः ही अग्रसर होता रहता है । जो मन की इस परिणति को शुद्धात्मा की ओर लगा दे, वही मनोगुप्ति कहलाती है ।

▣

जहं जहं मन परवेसं, तहं तहं ज्ञान किरन संचरियं ।
गुपिनस्य चरन सुद्धं, अप्पा परमप्प विमल एकत्वं ॥६०५॥

******

जिसके अन्तर में रमजाती, मनोगुप्ति रूपी बाला ।
उसका मन जिस जगह डोलता, होता वहीं कि उजियाला ॥
ऐसा ज्ञानी, इस आतम से, परमातम हो जाता है ।
परम शुद्ध चारित्र जगत में, शोभा वही कि पाता है ॥

******

जो मनोगुप्ति को धारण कर लेता है, उसका मन जहां जहां जाता है, वहीं ज्ञान का प्रखर उजेला होता है । मनोगुप्ति का साधक एक दिन आत्मा से परमात्मा बनकर निर्वाण प्राप्त कर लेता है ।

तम्हा मन गुत्तीए, जम्हा सुद्ध ज्ञान स सरुवं ।
कम्मंधनानि डहनं, अप्पा परमप्प निम्मलं सुद्धं ॥६०६॥

++++++

शुद्ध ज्ञान हो जाये जिससे, सुनो भव्यजन ! आत्म स्वरूप ।
बन जाये निर्मुक्त मलों से, जिससे चिदानंद चिद्रूप ॥
और कि परमातम हो जाये, जिससे अपना आतम राम ।
धारण करो निरंतर इससे मनोगुप्ति तुम आठों याम ॥

++++++

शुद्ध ज्ञान जिससे आत्म स्वरूप हो जाये, आत्मा बंधनों से निरमुक्त हो जाये और अपना आतमराम शुद्ध बुद्ध परमात्मा बन जाये, इससे हे भव्यों ! तुम सदा ही आत्मगुप्ति स्वरूप मनोगुप्ति को धारण करो ।

वयनं गुत्ति समासं, जं वयनं कहंपि नहु दिट्ठं ।
नं वयन भावलद्धी, जिन उवएसं समायरहिं ॥६०७॥

++++++

वाणी का न किया जाता है, संभाषण में जहां प्रयोग ।
और जहां साधा जाता है, मौन भाव वचनों का योग ॥
पाता है जिन उक्त आचरण, जहां कि शोभा नित न्यारी ।
वचन गुप्ति बस नहीं डोलती कहती जिनवाणी प्यारी ॥

++++++

जहां वाणी का किंचित प्रयोग न कर मौन धारण किया जाता है और सदा भाव वचनों का ही प्रयोग किया जाता है, वही जिनेन्द्र उपदेशानुसार वचनगुप्ति कहलाती है ।

वयनं सुद्ध सहावं, वयनं जं केवलन्नान स सरुवं ।
तं वयन गुत्ति जानदि, वयनं परवेस सुद्ध सम्मत्तं ॥६०८॥

••••••

आत्मरूप परिणमन करें जो, वचन वही है शुद्ध महान ।
वचन वही हैं, प्रतिभासित हों, जिनमें अनुपम केवल ज्ञान ॥
ऐसे शुद्ध वचन समकित को, करते नित प्रति व्यक्त ललाम ।
वचनगुप्ति वह ही कहलाती, कहते हैं जिनवर सुखधाम ॥

••••••

जो आत्मरूप में परिणमन करें, केवल ज्ञान जिनमें से प्रतिपल प्रतिभासित हो तथा जो शुद्ध सम्यक्त्व से परिपूर्ण हों, वही वचन शुद्ध वचन कहलाते हैं और वचन गुप्ति में ऐसे ही वचनों का समावेश होता है ।

✵

वयनं च अविचलं सुद्धं, वयनं भासेइ सुद्ध सम्मत्तं ।
अवयनं च सहावं, अह वयनं च केवलं सुद्धं ॥६०९॥

••••••

वयन वही हैं जो कि शुद्ध हो, और अचल हों ध्रुव होवें ।
समकित से जो पूर्ण सने हों, मिथ्यादर्शन को खोवें ॥
आत्म देश की ऐसी ही बस, अगम अगोचर वाणी है ।
वाणी वह जिसमें नित कलकल, करती श्री जिनवाणी है ॥

••••••

वचन वही जो अमर हों और ध्रुव हों, जिनमें सम्यक्त्व की झांकी दिखे तथा मिथ्या दर्शन को जो नष्ट कर दें । आत्मा की ऐसी ही वाणी है, कि उसमें ऐसे ही शुद्ध भावों का सरोवर भरा हुआ है ।

वय गुत्ती जं पिच्छदि, जानदि पिच्छेइ दंसनं सुद्धं ।
वयनं पि सुद्ध ज्ञानं, वय गुत्ती चरन सुद्ध संजुत्तं ॥६१०॥

महात्मना श्रावक कुलभूषण, वचन-गुप्ति जो धरते हैं ।
वे समझो समकित जल में हो, नित अवगाहन करते हैं ॥
आत्म ज्ञान के बन जाते हैं, वे कि सहज ही में श्रेष्ठ धनी ।
और अंत में चारित सो भी, पा जाते वे मुदित-मनी ॥

जो वचन गुप्ति को धारण करते हैं, वे सम्यक्त्व से ओत प्रोत ही हो जाते हैं, वे दर्शन और ज्ञान को पाकर अन्त में मुक्तिप्रदायक चारित्र के भी धनी बन जाते हैं ।

काईगुत्ति विसुद्धं, कृत कारित विसुद्ध परिनामं ।
कृतं च कम्म डहनं, कारित तं तिविह कम्म विवरीदं ॥६११॥

कृत कारित दोनों कर्मों में, रखना नित विशुद्ध परिणाम ।
और पूर्वकृत कर्मराशि को, क्षय करना नित आठों याम ।
भयविधि कारित कर्मों से भी, रखना पावन मन का साज ।
कायगुप्ति कहते इसही को, श्री हितोपदेशी जिनराज ॥

कृत और कारित दोनों प्रकार के कर्मों में शुद्ध परिणाम रखना, पूर्व में किये हुए संचित कर्मों को क्षय करना तथा तीन प्रकार के कर्मों से या कृत, कारित या कराये हुये कर्मों से अपने को भिन्न अनुभव करना, यही कायगुप्ति का लक्षण है।

कृतं च सुद्ध ज्ञानं, ज्ञान पंचमि मनः सुद्धं ।
व्रत संजम तव यरनं, काया कृतं च सुद्ध सद्‌भावं ॥६१२॥

******

सत्, शिव, सुन्दर शुद्ध आत्मा का, करना नित प्रति आराधन ।
मन वच काय से पंचज्ञान का, करना नित प्रति मतिप्लावन ॥
व्रत, तप, संयम, पालन करके, रखना मन निर्मल पावन ।
कहते हैं इस ही को श्री जिन, काय गुप्ति शुचि मन भावन ॥

******

अपने सत्, शिव, सुन्दर आत्मा का नित्य प्रति आराधान करना, मन, वच और कर्म से पंच ज्ञान का मनन करना और व्रत, तप, संयम पालन करके अपना मन पवित्र रखना, इसी को कायगुप्ति कहते हैं ।

कारित सुद्ध उवएसं, जं कृत कारित जिनवरिं देहिं ।
तं भाव सुद्ध करनं, कायगुत्ती च मुक्तिगमनं च ॥६१३॥

******

जिस पगडंडी से मिल जाये, अशरीरी सिद्धों की गैल ।
श्री जिन प्रभु कहते हैं, वह ही है सच्ची कारित की गैल ॥
ऐसा कारित कर्म बनाता, भावों को निर्मल पावन ।
कायगुप्ति से निश्चित मिलती, सिद्ध शिला मनहर पावन ॥

******

जिस क्रिया से या साधना से हमें मुक्ति का मार्ग मिल जाये, वही सच्ची क्रिया या सच्ची साधना कहलाती है । वास्तव में कायगुप्ति ऐसी ही साधना है जो हमें मन वांछित फल प्रदान करती है ।

समिदी समदर्सीए, सम दंसन ज्ञान चरन समभावं ।
सम अप्पा परमप्पा, सम्मत्तं सुद्ध समय दर्सीए ॥६१४॥

भेदभाव को छोड़ जगत पर, बनना समदर्शी भगवान ।
निश्चय नय से समिति इसी को, कहता है विवेक सद्‌ज्ञान ॥
रत्नत्रय की पुण्य राशि ही, समिति एक है सुखदाई ।
और समिति यह "मेरा आतम ही परमातम है भाई" ॥

भेदभाव को छोड़ समदर्शी बनने को ही 'समिति' कहते हैं । वास्तव में सम्यक्त्व ही सच्ची समिति है और सम्यक्त्व 'मेरा आतमा ही परमातमा है' बस केवल यही अनुभव करना ।

ईर्जासमिदि स उत्तं, ईर्जं भावेन दंसनं ज्ञानं ।
चरनं पि थान सुद्धं, ति अर्थं ईर्जं पंथ निव्वेदं ॥६१५॥

रत्नत्रय के पुण्य मार्ग पर, सरल भाव से पग धरना ।
कहते हैं जिनराज इसी को, ईर्या समिति ग्रहण करना ॥
दर्शन ज्ञानाचार यही है, एक पंथ बस सुखदाई ।
साम्य भाव से इस पर चलना, ईर्या समिति यही भाई ॥

रत्नत्रय के पुण्य पथ पर पग धरते चले जाना, इसी का नाम ईर्या समिति ग्रहण करना है । यही दर्शन है, यही ज्ञान है और यही आचार है और इसी पर आचरण करना ईर्या समिति है ।

ऊँ वंकारं हियंकारं, श्रियं कारं ति अर्थ संजुत्त ।
जानन्तो पदविदं, ईर्जा भावेन दर्सए मग्गं ॥६१६॥

******

ओ ह्रीं श्री कार पदों से, निर्मित जो पथ पावन है ।
और कि जिसमें रत्नत्रय की, छटा त्रिजग मन भावन है ॥
ऐसे आतम परमातम में जो जो जन क्रीड़ा करता है ।
ईर्या समिति वही इस जग में, श्रेष्ठ तपोधन धरता है ॥

******

ओम पद से मंडित, रत्नत्रय से पूरित जो आत्मपद है, उसी आत्मा में जो सदैव रमण करता, वही निश्चयनय से ईर्या समिति धारण करता है ।

✱

सम्यक्दर्सन सुद्ध, ऊँ वंकारं बिंद स्थान संदिट्ठं ।
हियंकारं अरहंतं, ज्ञानमयो ज्ञान सुद्ध समत्तं ॥६१७॥
श्रीकारं सुद्ध सुभावं, अवधि संजुत्त ज्ञान स सरुवं ।
मन पर्जय जानंतं, पदविंदु सुद्ध केवलं ईर्जं ॥६१८॥

******

सम्यग्दर्शन से मंडित है, ओंकार का रूप ललाम ।
ह्रियंकार में क्रीड़ा करते, श्री अरहंत प्रभो सुखधाम ॥
पंचज्ञान मय इस आतम की, श्रींकार है मूर्ति सुजान ।
जो इन मंत्रों में रमते वे, धरते ईर्या समिति महान ॥

******

ओम् का रूप सम्यग्दर्शन से मंडित है, ह्रीं में अरहन्त प्रभो विराजमान हैं, श्री पंचज्ञान क्रीड़ा करते हैं । ऐसे इस 'ओम ह्रीं श्री' मंत्रों को लीन रहते हैं, वास्तव में वे ही ईर्या समिति धारण करते हैं ।

पंचज्ञान सुसुद्धं, कुज्ञान मिच्छ भाव विलयंती ।
ईर्जा पंथ निवेदं, ईर्जा समिदी च अप्प परमप्प ॥६१९॥

******

जिस पगडंडी पर चलने से, पंचज्ञान होवें साकार ।
हो जाये जलहीन कि तीनों, मिथ्या मति का पारावार ॥
आतम परमातम जिस पथ पर, दिखे न पल भर को न्यारे ।
ईर्या समिति इसी को कहते, हैं श्रुत आगम रतनारे ॥

******

जिस पथ पर चलने से पंचज्ञान साकार हो जाये, मिथ्यात्व का समुद्र सूख जाये और आत्मा परमातमा बन जाये, उसी पथ को ईर्या समिति कहते हैं ।

*

भाषा समिदि स उत्तं, जं उत्तं जिनंद केवलं ज्ञानं ।
तं भाषा परमानं, ज्ञान सहावेन भाव्य संजुत्तं ॥६२०॥

******

केवल ज्ञान मुकुर से जिनने, युगपत जाने तीनों लोक ।
छिटकाया निज ज्ञान चन्द्र से, जिससे वाणी का आलोक ॥
वीतराग की उस भाषा को, हो कि जानना श्रेष्ठ प्रमाण ।
भाषा समिति इसे ही कहते, हैं निश्चयनय से विद्वान ॥

******

जिन्होंने केवल ज्ञान के प्रकाश में तीनों लोकों को जान लिया, उसी वीतराग भगवान की वाणी को ही प्रामाणिक वाणी मानना, इसी को भाषा समिति कहते हैं ।

भाषा अविचल सुद्धं मय मिच्छत दोस परिहरनं ।
भाषा जिन उवएसं, तं भाषा समिदि सुद्ध जाने हि ॥६२१॥

जिसमें ध्रुव, अविचल, अविनाशी सुख का रैन बसेरा हो ।
मद, मिथ्यात्व मोह का जिसमें कहीं न कुत्सित डेरा हो ॥
जिन प्रभु के वचनों से होवे, जिसकी सुरभित गली गली ।
भाषा समिति उसे ही कहते, निश्चयनय से अचल-चली ॥

जिसमें ध्रुव, अविचल और अविनाशी सुख का निवास हो; मद, मोह, मिथ्यात्व आदि दुखदायी तत्व जिसे छूते भी नहीं हों तथा जिनेन्द्र भगवान के वचनों से जो ओतप्रोत हो, वास्तव में वही 'भाषा समिति' है ।

एषन समिदि स उत्तं ईजं पंथं च एषन सुद्धं ।
विज्ञान ज्ञान रुवं, पिच्छतो सुद्ध दंसन ममलं ॥६२२॥
पिच्छे ज्ञान सरुवं, पिच्छे चरनं पि सुद्ध सम्मत्तं ।
पिच्छे अप्प सहावं, अप्पा परमप्प ममल पिच्छेइ ॥६२३॥

शुद्ध एषणा समिति वहीं है, जहां मुक्ति का चिंतन हो ।
शुद्ध एषणा समिति वहीं है, जहां आतम का अर्चन हो ॥
शुद्ध एषणा समिति वहीं है, जहां कि रत्नत्रय साकार ।
शुद्ध एषणा समिति वहीं है, जहां कि सोहं की झंकार ॥

जहां प्रतिपल मुक्ति का चिंतन हो, आत्मा का अर्चन हो तथा जहां, नित्यप्रति रत्नत्रय का पालन हो, वहीं 'एषणा समिति' होती है ।

आदानं निक्षेपं, आद सहावेन दंसए सुद्धं ।
निक्खवइ कम्म तिविहं, आद सहावेन सयल दोष निक्षेपं ॥६२४॥

✦✦✦✦✦✦

अपने आतम में ही धरना, अपने आतम प्रभु का ध्यान ।
और नष्ट करना अंतर से, तीनों विधि के कर्म महान ॥
सार बात यह सकल दोष तज, करता आतम का ही ध्यान ।
कहलाती है यही समिति बस, निर्मल 'निक्षेपन–आदान' ॥

✦✦✦✦✦

अपने आत्मा के द्वारा अपने आत्मा का ही, ध्यान धरना और अंतर से तीनों प्रकार के कर्म नष्ट करना, इसी को आदान निक्षेपन समिति कहते हैं ।

✻

आद सहावं ज्ञानं, अप्पं च अप्प दंसनं ज्ञानं ।
चरनं दुविह संजुत्तं, कम्मं निषवे लहै निव्वानं ॥६२५॥

✦✦✦✦✦✦

अपने आतम का स्वभाव वह, ज्ञानमयी है हे भाई !
रत्नत्रय करते हैं जिसमें, क्रीड़ा नित प्रति सुखदाई ॥
खाते हैं इस आतम–सिन्धु में, जो मानव नित प्रति गोते ।
कर्मकाट वे शिवपुर में जा, अविनाशी सुख में सोते ॥

✦✦✦✦✦

अपने आत्मा का स्वभाव ज्ञान से परिपूर्ण है । जो मानव इसमें नित्य निरंतर रमण करते रहते हैं वे निश्चय से ही निर्वाण को प्राप्त होते हैं ।

प्रतिस्ठापन समिदिओ, ज्ञानं धम्मं च सुक्क ध्यायंति ।
प्रतिस्ठापन संजुत्तं, ज्ञान सरुवेन अप्प संतुट्ठं ॥६२६॥

******

धर्म शुक्ल ध्यानों से करना, जगमग अंतर की प्याली ।
और ज्ञान की निश्य जगाना, अंतरतम में दीवाली ॥
इस प्रकार संतुष्ट बनाना, अपना प्यारा आतमराम ।
यही प्रतिष्ठापना समिति है, कहते वीतराग निष्काम ॥

******

अपने आत्मा को धर्म और शुक्ल ध्यानों से शोभित करना और अंतर में सदैव ज्ञान की दीवाली जगाते रहना, बस इसी को प्रतिष्ठापना समिति कहते हैं ।

■

ज्ञाने ज्ञान जोतोः, मल रहियो सयल दोस परिचत्तो ।
गय संकप्प वियप्पो, पंचम समिदी च ज्ञान संजुत्तो ॥६२७॥

******

जहां ज्ञान के हाथों जागे, इस आतम का सोता ज्ञान ।
जीर्ण शीर्ण होकर गिरजाये, जहां सकलमल का परिधान ॥
सब संकल्प विकल्पों से मन, जहां कि पा जाये बस त्राण ।
वहीं प्रतिष्ठापना समिति है, कहते वीतराग भगवान ॥

******

जहां ज्ञान के हाथों हमारा सोती आत्मा जाग जाये, जहां कर्मों की सकल बेड़ियाँ टूट जायें, और जहां संकल्प विकल्प नाम की वस्तुयें जीर्ण शीर्ण होकर गिर जायें, बस वहीं वास्तव में प्रतिष्ठापना समिति होती है ।

समिदी पंच विसुद्ध, तेरह विहि चरन संजमं भनियं ।
सम्मत्त चरन चरनं, संजम मंजुत्त लहइ निव्वानं ॥६२८॥

निश्चयनय से पंचसमिति का, जो परिपालन करते हैं ।
तेरह विधि चारित्र कि अपने, जीवन में आचरते हैं ॥
इस प्रकार होते जो संयम-मंडित समकित के धारी ।
वे नर निश्चय से बनते हैं, मुक्ति नगर के अधिकारी ॥

जो नियम पूर्वक पंचसमिति का पालन करते हैं, तेरह विधि का चारित्र अपने जीवन में उतारते हैं, बस वे ही संयमी पुरुष मुक्ति नगर के अधिकारी होते हैं ।

केवल ज्ञान

चरनं सुद्ध सहावं, चरनं संसार सरनि तिक्तं च ।
चरनं पि सुद्ध अप्पा, परमप्पा परम मोक्षस्य ॥६२९॥

आतम का सत्‌चित् स्वभाव हो, है सम्यक चारित्र महान ।
भव तन भोगों से निसपृहता, हो सम्यक चारित्र सुजान ॥
यह आतम हो परमातम है, परमातम है और नहीं ।
यह श्रद्धान जहाँ पर भी है, है सम्यक चारित्र वहीं ॥

आत्मा के सत् चित् स्वभाव को हो सम्यक चारित्र कहते हैं या सम्यक चरित्र उस साधना का नाम है जिससे भव तन तथा भोगों से आसक्ति मिट जाये । लेकिन निश्चयनय से सम्यक्चारित्र उसे ही कहते हैं, जहां यह अटल श्रद्धान हो कि यह आतमा ही परमात्मा है ।

एयं सजोगे नय, अवष्यं चिंतेइ लेइ गुरु भारं ।
अप्पा परमप्पानं, महावयं हुंति साहुनं ॥६३०॥

निश्चय नय को वे प्रधानता, आत्ममनन जो करता है ।
मोक्षमहल की पगडण्डी में, वह पग अपने धरता है ॥
यह आतम ही परमातम है, है यह जिसका ध्रुव श्रद्धान ।
हो जाता वह साधु नियम से, अवधि ज्ञान का पात्र महान ॥

जो मन वच और तन की एकाग्रता से आत्ममनन करता है, वह नियम से ही मुक्ति का पात्र बनता है । 'हमारा आत्मा ही परमात्मा है । जिसका यह अटल श्रद्धान हो जाता है, वह साधु नियम से अवधिज्ञान का पात्र बन जाता है ।

जंमन मरन विमुक्कं, अप्पा अप्पेन अप्पयं सुद्धं ।
परमप्पा परम पयं, परम सरुवं च चेयना सुद्धं ॥६३१॥
सून्यं ज्ञान समत्थं, ज्ञानं ज्ञायंति निम्मलं सुद्धं ।
अप्पा परमप्पानं, मनःपर्यय ज्ञान निम्मलं सुद्धं ॥६३२॥

जन्म-मरण से शून्य आत्मा जब आतम को ध्याता है ।
परम शुद्ध, चिद्रूप ब्रह्म से, अपनी डोर लगाता है ॥
ध्यान-अग्नि में जलकर उसके, हो जाते सब मल निष्प्राण ।
निश्चय से उस महाव्रती को, मिलता है मनपर्यय ज्ञान ॥

जब आत्मा अपने शुद्धात्मा को ध्याता है, परम शुद्ध चिद्रूप परमात्मा से अपनी डोर लगाता है, तब वह भी उसी के समान निर्मल और पवित्र बन जाता है । आत्मा के ऐसे आराधक महाव्रती को निश्चय से ही मनःपर्यय ज्ञान की प्राप्ति होती है ।

रिजुमति सुद्ध सरुवं, रुवातीतं च व्यक्ति रुवेन ।
जम्बूदीव सुदिट्ठं, मनः पर्यय निम्मलं विमलं ॥६३३॥

++++++

ऋजुमति मनः पर्यय है भाई, निज आतम का शुद्ध स्वभाव ।
इस प्रत्यक्ष ज्ञान में होता, इंद्रिय मन का पूर्ण अभाव ॥
एक लाख योजन कि जहां तक, है इस जम्बू का विस्तार ।
करता है यह ज्ञान वहाँ तक, जितने मन हैं सब साकार ॥

++++++

ऋजुमति आत्मा का ही स्वभाव है । इस प्रत्यक्ष ज्ञान में इंद्रिय और मन का पूर्ण अभाव रहता है । इस ज्ञान के द्वारा जहाँ तक जम्बू द्वीप का विस्तार है, वहां तक के मनों की सारी बातें इस ज्ञान के ज्ञाताओं को साकार होती रहती हैं ।

विपुलमति सुद्ध सहावं, विमलं च सुद्ध केवलं ज्ञानं ।
दीव अढ़ाई सुद्धं, मनःपर्ययज्ञान सुद्ध उवन्नं ॥६३४॥

++++++

अपना आतम राम विपुलमति मनः पर्यय का धारी है ।
विपुल कि जो कैवल्य प्राप्ति में, एक मात्र सहकारी है ॥
इस धरती का ढाई द्वीप तक, है कि जहां तक भी विस्तार ।
विपुल वहां तक के कि मनों को, करती रहता है साकार ॥

++++++

अपनी आत्मा उस विपुलमति की धारी है, जो कि केवल ज्ञान में एक मात्र सहकारी होता है । इस संसार का ढाई द्वीप तक या जहां तक भी विस्तार है, वहां तक के मनों की बातें यह ज्ञान साकार कर लेता है ।

अरहंतं सर्वज्ञं, केवल भावेन सुद्ध स सरूवं ।
अप्पा परमानंदं, अठारह दोस विवज्जिओ विमलं ॥६३५॥

आतम के कैवल्य रूप में, जो नित करते हैं क्रीड़ा ।
जीत अठारह दोष न सहते, जन्म मरण की जो पीड़ा ॥
परमानन्द मगन अपने में, नित्य आप जो रहते हैं ।
जो ऐसे सर्वज्ञ उन्हीं को, प्रभु अरहन्त कि कहते हैं ॥

जो निरन्तर केवल ज्ञान में मगन रहते हैं, अठारह दोषों पर जो विजय प्राप्त कर लेते हैं, ऐसे सर्वज्ञ प्रभो होते हैं और वही अरहन्त परमात्मा कहलाते हैं ।

अठारह दोस वियानं दोसं गुन रूवमेय विज्ञानं ।
रूवं रूव समत्थं, विज्ञानं ज्ञान जानि सद्भावं ॥६३६॥

आते हों जिसकी छाया के, निकट नहीं अष्टादश दोष ।
भेद और विज्ञानो कला का जो हो ध्रुव, अविनाशी कोष ॥
आतम से परमातम बनने, की हो जिसमें शक्ति अपार ।
होता है अरहन्त वही बस, अगम ज्ञान का पारावार ॥

जिसके निकट अष्टादश दोष नहीं आते हैं, भेद और विज्ञान का विशाल कोष होता है तथा आत्मा से परमात्मा बनने की जिसमें असीम शक्ति होती है, वही अरहन्त परमात्मा कहलाता है ।

क्षुधा त्रषा परिहरणं, संसारे सरनि भाव तिक्तं च ।
ज्ञान सहावं सुद्धं, ज्ञान अहारेन अन्नपान सहकारं ॥६३७॥

******

क्षुधातृषा की बाधाओं से, जो सब भाँति दूर हों दूर ।
भव तन भोगों के बंधन सब, जिनने काट किये हों चूर ॥
ज्ञान रूप जिनका शरीर हो और ज्ञान ही हो आहार ।
ऐसी हो विभूति कहलाती, है सर्वज्ञ ज्ञान--आधार ॥

******

क्षुधा तृषा, जन्म-मरण आदि की बाधाओं से जो परे हो गये हों । भव, तन, और भोग के बंधन जिन्होंने चूर चूर कर डाले हों तथा जो सदैव ज्ञान में ही क्रीड़ा किया करते हों, ज्ञान रूप ही जिनका शरीर हो, वही सर्वज्ञ भगवान अरहन्त महाप्रभु कहलाते हैं ।

❋

भयं च दोषाईनं, भयं च संसार सरनि तिक्तं च ।
ज्ञान सहाव सरूवं, भय अभयं दोष तिक्तस सरूवं ॥६३८॥

******

दोषों का सद्भाव जहाँ है, वहाँ सदा भय होता है ।
पर दोषों से हीन मनुज नित, अविरल सुख में सोता है ॥
श्री जिनेन्द्र प्रभु दोषों से बचा, हुए अठारह दोष विहीन ।
इससे वे हों अभय सदा ही, रहते हैं निज में तल्लीन ॥

******

जहाँ दोष होते हैं, वहाँ निश्चय से भय होता है और जहाँ दोष नहीं वहाँ सुख और अनन्त सुख का निवास होता है । श्री जिनेन्द्र भगवान अठारह दोषों से रहित हैं इसलिये वे सदा आत्म सुख में ही तल्लीन बने रहते हैं ।

रागो मोह सचित्तं, संसारे तजंति सुद्ध ससरूवं ।
ज्ञानं राग सहावं, ज्ञानं मोहेन तजंति मोहंधं ॥६३९॥

राग मोह दोनों सचित्त हैं, वर्जनीय दोनों भाई ।
इससे श्री अरहन्त प्रभो ने, त्याग दिया मन दुखदाई ॥
उनमें भी है राग, राग में पर उनके संसार नहीं ।
राग—ज्ञान का राग, कि जिसमें विकृति की झंकार नहीं ॥

राग और मोह दोनों सचित्त जन्य पदार्थ हैं, और इसलिये अरहन्त प्रभो ने संसार वर्धक राग और मोह दोनों का त्याग कर दिया । अरहन्त प्रभो को भी राग रहता है, किन्तु संसार का नहीं अनन्तानन्त ज्ञान का ।

ज्ञान सहावेचिंत्तं, चिंता संसार तजंति परिनामं ।
चिंतं अप्प सहावं, अप्पा परमप्प केवलं सुद्धं ॥६४०॥

श्री अरहन्त प्रभो को भी है, चिन्ता पर वह ज्ञानाकार ।
सांसारिक चिन्ता कैसी जब, छोड़ दिया उनने संसार ?
चिंता उनकी बनी चिन्तवन और चिन्तवन यही ललाम ।
मैं आतम हूँ परमातम हूँ और कि मैं हूं केवल धाम ॥

श्री अरहन्त प्रभो को भी चिन्ता रहती है, पर वह चिन्ता संसार की नहीं ज्ञान की । उनकी चिन्ता चिन्तवन में परिणित हो जाती है और वह चिन्तवन यही कि मैं स्वयं परमात्मा हूं—मैं स्वयं केवल धाम हूं ।

वृद्धं तुं अल्प मृत्युं, चौगइ भावेन तजंति सद्भावे ।
ज्ञाने ज्ञान सहावं, अजरामर सासयं ठानं ॥६४१॥

✦✦✦✦✦✦

जरा मरण तब हो संभव है, जबकि चतुर्गति के हों बंध ।
जरा मरण वह क्यों कर जाने, जो गतियों से हो निर्बन्ध ॥
श्री अरहन्त प्रभो को भी हैं बंध, बंध पर वे अविकार ।
जरा मरण से रहित कि जिनमें, लहराता निज ज्ञान अपार ॥

✦✦✦✦✦✦

जरा और मरण तभी होते हैं जब चतुर्गति के बंध साथ लगे हों । श्री अरहन्त प्रभो ने तो बंधनों को जड़ से ही उखाड़ दिया, उनको जरा मरण के दुख कैसे ? वैसे अरहन्त प्रभो को भी बंध हैं, किन्तु वे जरा मरण के नहीं,—अविनाशी और अविकार ज्ञान के ।

✷

स्वेदं खेद संजुत्तं, भव कारनेन सयल तिक्तं च ।
ज्ञान सहाव सरूवं, स्वेदं च परम केवलं ज्ञानं ॥६४२॥

✦✦✦✦✦✦

स्वेद, खेद उनको होता है, जो होते हैं भववासी ।
इन दोषों को वे क्यों जाने, जो कि बन गये अविनाशी ॥
आत्म चितवन में 'केवल' का, परम स्वाद जो आता है ।
वही स्वाद अरहन्त प्रभो का, खेद स्वेद कहलाता है ॥

✦✦✦✦✦✦

खेद और स्वेद दोष उनको सताते हैं, जो संसार के वासी होते हैं । अरहन्त प्रभो ने जब संसार का नाश ही कर दिया, तो उनको खेद और स्वेद के दुख कैसे ? आत्मचिंतन में केवलज्ञान का जो अवर्णनीय स्वाद आता है, वही स्वाद अरहन्त प्रभो का खेद और स्वेद कहलाता है ।

मदो रति संजुत्तं, संसारे सरनि सयल तिक्तं च ।
ज्ञानबलेन विसुद्धं, ममात्मा सुद्ध दंसनं ममलं ॥६४३॥

मद से नेह उसे होता है, रति से होता उसे सनेह ।
ईंट और पत्थर का रहता, जिसका भव-अटवी में गेह ॥
श्री जिनेन्द्र निर्ग्रन्थ किन्तु यदि उनमें भी मद रति का दोष ।
तो वह दोष यही है "मैं हूं अविनाशी दर्शन का कोष" ॥

मद में चूर और रति में मतवाले वे ही पुरुष होते हैं जिनका संसार से प्रगाढ़ सम्बन्ध होता है । श्री जिनेन्द्र तो निर्ग्रन्थ हैं, इसलिये न तो उनमें मद दोष ही होता है और न रति ही । उनमें जो मद होता है, वह यह कि मैं अलख हूँ, अगोचर हूं, अविनाशी हूं और अनन्त ज्ञान का कोष हूं ।

विस्मय जननी निद्रा, संसारे सरनि तिक्त मन विचलं ।
ज्ञान सहावे सुद्धं, जम्मन मरनं च उवसमं भनियं ॥६४४॥

विस्मय, निद्रा, जन्म आदि सब दोष उन्हीं में रहते हैं ।
चंचल मन का छोर पकड़ जो, नित भव जल में बहते हैं ॥
श्री जिनेन्द्र प्रभु निज स्वरूप में, करते रहते हैं क्रीड़ा ।
विस्मय, निद्रा, जन्म न इससे देते उन्हें कभी पीड़ा ॥

विस्मय, निद्रा, जन्म आदि दोष उन्हीं में रहते हैं, जो जन्म-मरण की निरन्तर पीड़ा सहा करते हैं । श्री जिनेन्द्र प्रभु इन सब दोषों से रहित, अपने आप में तल्लीन रहा करते हैं, अतः ये सब दोष उनके पास भी नहीं आते ।

अठ दह दोस विमुक्कं, ज्ञान सहावेन दोष परिचत्तो ।
ज्ञानं ज्ञान सरूवं, अप्पनं विमल केवलं ज्ञानं ॥६४५॥

******

श्री जिनेन्द्र प्रभु रहते हैं नित, अष्टादश दोषों से हीन ।
रहते हैं वे नित्य निरन्तर, निज स्वरूप में हो तल्लीन ॥
उनका ज्ञान न ज्ञान रहा अब किन्तु जगी उसमें वह जोत ।
केवल ज्ञान विहंसता जिसमें, दुर्गम भवसागर का पोत ॥

******

श्री जिनेन्द्र प्रभु अष्टादश दोषों से हीन रहते हैं, अतः नित्य निरन्तर निज में ही तल्लीन रहा करते हैं। उनका ज्ञान केवल ज्ञान ही नहीं रहता, किन्तु वह केवल ज्ञान में परिवर्तित हो जाता है, जिसमें उन्होंने त्रैलोक्य प्रतिभाषित होता रहता है ।

■

संजोगे केवलिनो, तेरहमे गुण ठान ज्ञान संजुत्तो ।
अप्पा अप्प सरूवं, अरुहो देओ मुने अण्णा ॥६४६॥

******

योग सहित होते हैं जो भी, संयोगी अरहन्त महान ।
होता है निश्चय से उनको, गुणस्थान कैवल्य सुजान ॥
चतुर्घातिया कर्म नाश कर, वे जिनेन्द्र बन जाते हैं ।
और इसी से वे जगती में, पूजनीय कहलाते हैं ॥

******

जो संयोग-केवली अरहन्त भगवान होते हैं। वे निश्चय से कैवल्य गुण स्थान के धारी होते हैं। वे चतुर्घातिया कर्म नाशकर परम 'जिन' नाम की संज्ञा पाते हैं और इसी से वे संसार में पूज्यनीय कहलाते हैं।

आहारोय सरीरो, अतिन्द्री ज्ञान आहार संजुत्तो ।
चौदस प्रान सरूवं, अप्पा परमप्प लद्ध सद्भावं ॥६४७॥

होता है अर्हन्त देव का, परमशुद्ध औदारिक तन ।
करते हैं आहार रूप में, वे सत् केवल ज्ञान ग्रहण ॥
होते वे दस प्राण नहीं पर, चार प्राण के ही धारी ।
परम श्रेष्ठ पद में रमता नित, उनका आतम अविकारी ॥

श्री जिनेन्द्र भगवान परम औदारिक शरीर के धारी होते हैं और वे ज्ञानाहार ही करते हैं। वे चार प्राण के धारी होते हैं और सदैव ज्ञान में ही रमण किया करते हैं।

वाहिज दोष रहिओ, आहार निहार विवज्जिओ सुद्धो ।
ज्ञान आहार संजुत्तो, ज्ञानेन ज्ञान अप्प परमप्पा ॥६४८॥

जरा आदि दोषों से रहता, दूर केवली का संसार ।
दृश्यमान होते न रंच भी, हैं उनमें आहार विहार ॥
परमज्ञान केवल का ही वे अशन निरन्तर करते हैं ।
ज्ञान रूप हो ज्ञान कुञ्ज में, वे नित सहज विचरते हैं ॥

केवली भगवान का जरादि दोषों से विहीन संसार होता है। ज्ञान का ही वे आहार करते हैं और ज्ञान में ही विहार। ज्ञान रूप होकर ज्ञान-कुञ्ज में विचरना, यही उनकी सबसे बड़ी विशेषता है।

एरिय गुने हि सुद्धो, अयसय वर ज्ञान दंसनं समग्गं।
पडिहारं संजुत्तं, भावन भावंति ममल अरहंतं ॥६४९॥

श्री अरहन्त प्रभो होते हैं, चतुर्विंश अतिशयधारी।
चार चतुष्टय शोभित होते, उनमें नित प्रति सुखकारी॥
आठ प्रतिहार्यों से नित वे, जगमग जगमग होते हैं।
ऐसे ही प्रभु इस जगती के, सकल कर्ममल धोते हैं॥

श्री अरहन्त भगवान ३४ अतिशय और चार चतुष्टय के धारी होते हैं। आठ प्रतिहार्यों के भी वे धनी होते हैं, और इसी से उनके द्वारा संसार का सदैव उद्धार होता रहता है।

अरहन्तो अरु हो देओ, रहिओ संसार सरनि विगतोयं।
विगतं अज्ञानमयं, ज्ञान सहावेन तिलोय दर्संतो ॥६५०॥

सपने तक में जिन्हें न होता, दृश्यमान भीषण जग म्लान।
नष्ट भ्रष्ट कर दिया कि जिनने, जगती में फैला अज्ञान॥
जिसके ज्ञान मुकुर में युगपत, तीनों लोक दिखाते हैं।
ऐसे श्री अरहन्त देव ही, वंदनीय कहलाते हैं॥

जिन्हें स्वप्न तक में संसार की भीषण झांकी नहीं दिखती, संसार में व्याप्त तिमिर जिन्होंने नष्ट कर दिया है तथा त्रैलोक्य के जो युगपत् दृष्टा हैं, ऐसे जो अरहन्त भगवान हैं, वे ही संसार में वंदनीय कहलाते हैं।

अरुहं अरुह सरूवं, ज्ञानबलेन तिलोय समसुद्धं ।
सम्यक्दर्सन दर्सं, उत्पन्नं ममल केवलं ज्ञानं ॥६५१॥

++++++

श्री अरहन्त देव होते हैं, परम श्रेष्ठ पद के धारी ।
आत्म ज्ञान के बल से होते, हैं वे जिन समताचारी ॥
जहां तहां सम्यक दर्शन का, वे नित दर्शन करते हैं ।
देवों को भी जो दुर्लभ है, वह केवल मणि धरते हैं ॥

++++++

श्री अरहन्त देव परम श्रेष्ठ पद के धारी होते हैं, आत्मज्ञान के बल से वे सब जीवों पर समता दृष्टि रखते है । जहां जहां उनकी दृष्टि जाती है, उन्हें निर्मल सम्यग्दर्शन के दर्शन होते हैं, केवलज्ञान उनका परम आभूषण होता है ।

✱

अरुहो देओ झायदि, ह्रींकारे सुद्ध दंसनं ममलं ।
ममलं ममल सहावं, अरुहो देओ सुद्ध ज्ञानसंजुत्तो ॥६५२॥

++++++

श्री अरहन्त देव का जो भी, भविजन करना चाहें गान ।
उन्हें उचित वे ह्रींकार का, करें निरन्तर निर्मल ध्यान ॥
और सत्य पूछो तो भाई, घर घर जिसका डेरा है ।
उस आतम में ही तो प्रभु का प्यारा रैन-बसेरा है ॥

++++++

श्री अरहन्तदेव का जो आराधन करना चाहते हैं, उन्हें ह्रींकार का निर्मल ध्यान कर लेना चाहिये । अपने आत्मा का आराधन करने से भी अरहन्त देव का ही आराधन हो जाता है, क्योंकि जो आत्मा है वही परमात्मा है ।

सिद्धं सिद्धि संपत्तं, अट्ठ गुनं ज्ञान केवलं सुद्धं ।
अट्ठंमि पुहुमि समिधं, सिद्ध सरूवं च सिद्धि संपत्तं ॥६५३॥

******

सिद्ध प्रभो सर्वोच्च सिद्धि के, होते शाश्वत धनी महान ।
अष्टगुणों से शोभित उनमें, जगमग करता केवलज्ञान ॥
अष्टमपृथ्वी सिद्ध शिला पर, करते हैं वे नित विश्राम ।
ऐसे सिद्ध कौन हैं भव्यो, घटघट वासी अंतरराम ॥

******

सिद्ध भगवान सर्वार्थसिद्धि के शाश्वत अधिकारी होते हैं, वे अष्टगुणों से शोभित और केवल ज्ञान से मंडित होते हैं । ऐसे सिद्ध प्रभो कौन हैं ? अपने ही घट में विराजमान अपने आत्म महाप्रभु

*

संमत्त ज्ञान दंसन, बलवीरिय सुहम धम्म सहियं च ।
अवगाहन गुणसमिधं, अगुरुलघु तिलोय निम्मलंनिमलं ॥६५४॥

******

सिद्ध समान शुद्ध यह आतम, होता दर्शन का आगार ।
दर्शन, ज्ञान, शक्ति का होता, वह अनन्ततम पारावार ॥
अवगाहन, सूक्ष्मत्व, अगुरुलघु अव्याबाध आदि गुणराज ।
पहिनाते रहते उस विभु को नित प्रति नव वसन्त का साज ॥

******

शक्ति रूप से सिद्ध भगवान के समान ही यह आत्मा अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान और अनन्तशक्ति का समुद्र होता है । उसमें सिद्ध भगवान के समान ही सूक्ष्मता, अवगाहन, अगुरु-लघुत्व और अव्याबाधत्व और निर्मल क्षायिक दर्शन ऐसे आठ गुण होते हैं ।

सिद्धं सहाव सुद्धं, केवल दंसन च ज्ञान संपन्नं ।
केवल सुकिय सुभावं, सिद्धं सुद्ध मुनेयव्वा ॥६५५॥

✦✦✦✦✦✦

सिद्धस्वरूपी आतम प्रभु का, होता निर्मल शुद्ध स्वभाव ।
केवल दर्शन और ज्ञान का, ही रहता उसमें सद्भाव ॥
निज स्वभाव के ही उपवन में, वह नित करता रम्य विहार ।
शुद्ध, सिद्ध, ध्रुव पद ही उसका, रहता ममल रूप अविकार ॥

✦✦✦✦✦✦

हमारे आतम प्रभु का सिद्ध भगवान के समान ही शुद्ध स्वभाव होता है। इसमें भी वही दर्शन, ज्ञान का अतुल भंडार होता है, जो सिद्ध प्रभो में रहता है। वह भी सिद्ध भगवान के ही समान अपने कुंज में आत्म रमण किया करता है और उसका भी वही शुद्ध, सिद्ध, ध्रुव, अविनाशी पद होता है।

✱

षट दव्व दव्व सुद्धं, काया पंचास्ति विमल सुपसिद्धं ।
तत्वं सप्त सरूवं, पदार्थं पदविदं केवलं ज्ञानं ॥६५६॥

✦✦✦✦✦

षट द्रव्यों में जीव द्रव्य ही, जीव द्रव्य ही सुखदाई ।
पंच अस्ति कायों में भी बस, सार जीव ही है भाई ॥
सप्त तत्व में जीव तत्व ही, अलख अगोचर अगम अनूप ।
ओम मन्त्र में जीव तत्व ही, केवल चिन्ह रूप चिद्रूप ॥

✦✦✦✦✦✦

षट् द्रव्यों में, पंचास्तिकायों में, और सप्त तत्वों में बस एक जीव द्रव्य ही सारभूत पदार्थ है और वही जीव द्रव्य या आत्म तत्व ओम् मन्त्र में भी प्रमुख स्थान रखता है ।

चौदस पाण विसुद्धं, अतिन्द्रिय ज्ञान सयल समिद्धं ।
नंत चतुष्टय सहियं, सिद्धं सुद्धं च सिद्धि संपत्तं ॥६५७॥

******

चार और दश प्राणों से जो, मुक्त वही है आतमराम ।
पूर्ण अतीन्द्रिय ज्ञानों से जो, युक्त वही है आतमराम ॥
नंत चतुष्टय सी विभूति में, जिसके निकट, अनूप महान ।
वही हमारा आतम प्रभु है, कहते जिसे सिद्ध भगवान ॥

******

जो शरीराश्रित प्राणों से रहित है, अतीन्द्रिय ज्ञानों से जो पूर्ण युक्त है तथा जो चार चतुष्टय से पूर्ण है, वही हमारा आतमा है, जिसे सिद्ध भगवान कहते हैं ।

चौदह गुणस्थान

मिथ्या सासन मिस्सो अविरे देसव्रत सुद्ध समिद्धं ।
प्रमत्त अप्रमत्त भनियं, अपूर्वकरन सुद्ध संसुद्धं ॥६५८॥
अनिवर्त सूक्ष्मवंतो, उवसत कषाय क्षीण सुसमिद्धो ।
सजोग केवलिनो, अजोग केवली हुंति चोदसमो ॥६५९॥

******

मिथ्या, सासादन मिश्रित औ अविरत समकित दुःख हरन ।
देश, प्रमत्त, अप्रमत्त, अपूरब और श्रेष्ठ अनवृत्तिकरण ॥
सूक्षम लोभ, उपशांत और शुचि क्षीण कषाय संयोग महान ।
और अयोग केवली जिसमें होते हैं चौदह गुण स्थान ॥

******

मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र, अविरत-सम्यग्दर्शन, देशव्रत, प्रमत्तविरत, अप्रमत्तविरत, अपूर्वकरन, अनवृत्तिकरण, सूक्ष्मलोभ, उपशान्त कषाय, क्षीणकषाय, संयोगकेवली जिन और अयोग-केवली जिन ऐसे चौदह गुणस्थान होते हैं ।

ए चौदस गुनठानं, हुंति स सहावं सुद्ध मप्पानं ।
अप्प सरुवं पिच्छदि, अप्पापरमप्प केवलं ज्ञानं ॥६६०॥

◆◆◆◆◆

चौदह गुणस्थान होते हैं, शुद्ध आत्मा के भाई ।
होते हैं क्या, रहते हैं ये, सब घट घट में सुखदाई ॥
नियम एक ही है प्रकृति का, खुले जहां पर ज्ञान कपाट ।
वहीं उसी क्षण बन जाता है, यह मानव भगवान विराट ॥

◆◆◆◆◆

ऊपर जो गुणस्थान बताये गये हैं वे सब आत्मा के ही हैं। सिद्धान्त यह है कि जैसे ही आत्मा को अपनी पहिचान होती है, वैसे ही यह आत्मा केवलज्ञान को पाकर परमात्मा बन जाता है ।

तत्वं च दव्व कायं, पदार्थं सुद्ध परम मप्पानं ।
हेय उपादेय च गुनं, वर दंसन ज्ञान चरन सुद्धानं ॥६६१॥

◆◆◆◆◆

तत्व, द्रव्य, काया, पदार्थ और परम शुद्ध परमातमराम ।
इस विशाल जगतीतल ऊपर, यही पंच हैं ज्ञेय ललाम ॥
दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीन ये, उपादेय हैं प्रिय भाई ।
उन्हें छोड़कर द्रव्य जगत के सभी हेय हैं दुखदायी ॥

◆◆◆◆◆

७ तत्व, ६ द्रव्य, ५ अस्तिकाय, ९ पदार्थ और सिद्ध परमात्मा ये पाँच संसार में सर्वश्रेष्ठ ज्ञेय पदार्थ हैं । दर्शन, ज्ञान और आचरण ये तीन अथवा इनका धारी आत्मा ही उपादेय वस्तु हैं और बाकी का संसार में सभी हेय वस्तु समझनी चाहिये ।

टंकोत्कीनं अप्पा, दंसन मल मूढ़ विरय अप्पानं ।
अप्पा परमप्प सरूवं, सुद्धं ज्ञानमय ममल परमप्पा ॥६६२॥

******

दर्शन मोहनीय से वर्जित, है यह अपना आतमराम ।
है इसका टंकोत्कीर्णमय, अजर अमर ध्रुव रूप ललाम ॥
है अनन्त निस्सीम ज्ञान का, यह अनन्त निस्सीम निधान ।
इसके हर तारों से झंकृत, होते नित्य सिद्ध भगवान ॥

******

अपना यह आत्मा दर्शन मोहनीय कर्म के अन्धकार से पूर्ण रूपसे लिप्त है । इसका अजर, अमर टंकोत्कीर्ण स्वभाव है । वह ज्ञान का असीम भण्डार है और इसमें प्रतिपल सिद्ध भगवान की अनुपम झाँकी दिखाई पड़ती है ।

*

रूवं भेय विज्ञानं, नय विभागेन सद्दहं सुद्धं ।
अप्पसरुवं पिच्छदि, नय विभागेन साद्धं दिट्ठं ॥६६३॥

******

रहता है जिस मानव के ढिग, भेद ज्ञान का अस्त्र अनूप ।
वह पर को दे पीठ, निरखता, आतम का नित शुद्धस्वरूप ॥
भेद ज्ञान की ममल दृष्टि में, एक यही बस टोना है ।
दिखता बस उसको आतम का, नित्य स्वरूप सलोना है ॥

******

जिस मनुष्य के पास भेद विज्ञान का अनूप अस्त्र रहता है, वह परद्रव्यों से पराङ्मुख होकर सदैव अपने आत्मा का रूप ही निरखता रहता है जिसको भेद विज्ञान मिल जाता है, उसको नित्यप्रति आत्मा का ही सलोना स्वरूप दिखता रहता है ।

उग्गवत तवादि जुत्तं, तववय क्रिया श्रुतं च अन्नानं ।
मिच्छात दोस सहियं, मिच्छात गुनस्थान व्रत संजुतं ॥६६४॥

उग्र--उग्र से उग्र सदा जो व्रत करता, तप करता है ।
क्रियाकाण्ड के सघन कुंज में, जो निःशंक विचरता है ॥
पर जिसके अंतस्तल में है, रंच नहीं सच्चा श्रद्धान ।
वह मिथ्यात्व गुणस्थानी है, मिथ्यात्वी है वह अज्ञान ॥

जो सदैव उग्र से उग्र तप, व्रत संयमादि करता है, लेकिन जिसके हृदय में आत्मानुभूति: नहीं रहती, उसे मिथ्यात्वगुण स्थानी ही समझना चाहिये ।

एवं च गुन विसुद्धं, असुह अभाव संसार सरनि मोहंधं ।
अप्प गुनं नहु पिच्छदि, संसय रुवेन दुर्भाव संजुत्तं ॥६६५॥
अप्पा परु पिच्छंतो, संसय कवेन भावना जुत्तो ।
अंतराल व्रताओ, न भुवनि न सिहरि वे संतो ॥६६६॥

आतम के सत् चित् स्वभाव को, जो नित अनुभव करता है ।
किन्तु अशुभ मिथ्यात्व मार्ग पर, भी जो सहज विचरता है ॥
भुवन शिखरगत अंतराल में, ऐसा जन लेता उच्छ्वास ।
दर्शन के गिरि से गिरकर वह, सासादन में करता वास ॥

जो यद्यपि, नित्यप्रति आत्मा का ही आराधन करता है, लेकिन मिथ्यात्व कर्म के उदय से जिसका श्रद्धान कभी कभी मिथ्या भी हो जाता है, ऐसा पुरुष दर्शन के ऊँचे पर्वत से गिरकर फिर भूमि पर आ जाता है और फिर वह सासादन गुणस्थान में वास करता है ।

मिश्रं मिश्र सहावं, षट्दर्सन सुभाव संजुत्तो ।
अप्पा परु जानंतो, जैनोक्तं दंसनं ज्ञान बुझंतो ॥६६७॥

••••••

मिश्रगुण स्थानी में रहते, नित्य निरन्तर मिश्रित भाव ।
उसके अन्तर में रहता है षट् दर्शन का नित सद्भाव ॥
'अप्पा' 'पर' का, 'जिनदर्शन' का, रहता यद्यपि उनको ज्ञान ।
षटदर्शन से युत रहता है, किन्तु सदा उसका श्रद्धान ॥

••••••

'मिश्र' गुणस्थान में सदैव मिश्रित भाव रहते हैं यद्यपि 'आत्मा' और 'पर' का उसे पूर्ण ज्ञान रहता है, तो भी यह ज्ञान उसका दूसरे दर्शनों के साथ हमेशा डांवाडोल ही होता रहता है।

✷

न्याइक बोद्ध संजुत्तो, चारवाक सिव भट्ट पिच्छंतो ।
षट्दर्सन मिश्रंतो, तव वय काय तत्त जानंतो ॥६६८॥

••••••

मिश्र गुणस्थानी होता है, नैयायिक मत का ज्ञाता ।
सांख्य बौद्ध मीमांसा से भी, रखता है वह निज नाता ॥
चार्वाक दर्शन, तप, व्रत से, पूरित रहता उसका ज्ञान ।
और इसी से हो जाता है, उस नर का मिश्रित श्रद्धान ॥

••••••

मिश्र गुणस्थानी नैयायिक, सांख्य, बौद्ध, चार्वाक आदि दर्शनों का जानकार होता है, और इससे उसका ज्ञान मिश्रित हो जाता है, अतः वह मिश्र गुणस्थान में ही वास करता है।

भावार्थ—जैनदर्शन का ज्ञाता भी यदि शेष दर्शनों का ज्ञाता हो तो पाण्डित्यरूप संसारी दृष्टि से तो ठीक है किन्तु मिश्र गुणस्थान से आगे बढ़ने में वह असमर्थ हो जाता है।

व्रत क्रिया संजुत्तो, तव संजम मिच्छ भाव संजुत्तो ।
पुन्य सहावें जुत्तो, रागमय मिश्र गुणस्थान संजुत्तो ॥६६९॥

******

मिश्र गुणस्थानी जन यद्यपि, व्रत तप पालन करता है ।
संयम के चारित्र कुंज में, नित निर्द्वन्द्व विचरता है ॥
अवधिज्ञान सी कुछ कुऋद्धियें भी रहती हैं उसके पास ।
दधि गुड़ से मिश्रित भावों में, ही पर वह नित करता वास ॥

******

मिश्र गुणस्थानी, यद्यपि व्रत, तप, संयम आदि सब पालता है, अवधिज्ञान की कुछ कुऋद्धियें भी उसके पास रहती हैं, लेकिन वह मिश्र गुणस्थान में ही वास करता है । उसका ज्ञान दधि और गुण के मिश्रित स्वाद के समान ही होता है ।

❋

रागमय मोह सहिओ, मिच्छा कुज्ञान सयल संजुत्तो ।
पुन्य सहावें जुत्तो, रागमय मिश्र गुण स्थान संजुत्तो ॥६७०॥

******

मिश्र गुण स्थानी होता है, राग मोह का पूर्ण निधान ।
उसमें नित प्रति क्रीड़ा करते, मिथ्यादर्शन मिथ्याज्ञान ॥
ज्ञान भाव के सुरभि कुंज में, वह नित जहां विचरता है ।
वहां कि वह वैराग्य भाव, पुण्य राग भी करता है ॥

******

मिश्र गुणस्थानवर्ती मनुष्य पुण्य व रागद्वेष से युक्त होता है और उसमें मिथ्यात्व का निवास भी होता है । जहां वह ज्ञानी होकर वैराग्य भाव में विचरण करता है, वहां उसके साथ पुण्य राग के भाव भी लगे ही रहते हैं । और जहां राग हो वहां द्वेष का होना तो अवश्यम्भावी ही होता है ।

अविरे सम्माइट्ठी जाने पिच्छेई सुद्ध संमत्तं ।
षट दव्व पंचकायं, नव पयथ्न सप्त तत्व पिच्छंतो ॥६७१॥

******

अविरत सम्यग्दृष्टि जीव को, होती निज पर की पहचान ।
निर्मल ध्रुव सम्यग्दर्शन का, होता वह प्रतिबिम्ब महान ॥
द्रव्य, तत्व, काया, पदार्थ का, पीता है वह नित प्याला ।
आतम मनन में भरमाता वह, नित मन मर्कट मतवाला ॥

******

अविरत सम्यग्दृष्टि जीव को निज और पर की पूर्ण रूप से पहिचान होती है, वह निर्मल सम्यक्‌दर्शन का प्रतिबिम्ब ही होता है । द्रव्य, तत्व, काया पदार्थ आदि का वह सतत ज्ञान करता रहता है और अपने आत्मा में ही नित्य प्रति रमण करने का वह भरसक प्रयत्न किया करता है ।

अप्पसरुवं पिच्छदि, वर दंसन ज्ञान चरन पिच्छंतो ।
सहकारे तव सुद्धं, हेय उपादेय जानए निश्चं ॥६७२॥

******

अविरत सम्यग्दृष्टि पुरुष को, आतम की होती पहिचान ।
दर्शन, ज्ञान, चरण का करता, वह नित अनुभव शुद्ध महान ॥
आतम ज्ञान के बल से वह नित, यथाशक्ति तप करता है ।
हेय त्याग कर उपादेय से, ज्ञान-कोष नित भरता है ॥

******

अविरत सम्यग्दृष्टि जीव को आत्मा की पूर्ण पहचान होती है, वह दर्शन, ज्ञान, और आचरण का सदैव अनुभव किया करता है । वह नित यथाशक्ति तप करता रहता है । और हेय वस्तुयें त्याग कर वह सदैव उपादेय पदार्थों से नेह लगाता है ।

सुद्धं सुद्ध सहावं, देवं देवाधि सुद्ध गुरु धम्मं ।
जाने निय अप्पानं, मल मुक्कं विमल दंसनं सुद्धं ॥६७३॥

++++++

देव और देवों का नायक, होता जो ध्रुव आतमराम ।
सम्यग्दृष्टी का होता है, वही देवगुरु, धर्म ललाम ॥
पीता है नित आत्ममनन का वह सत् शिव सुन्दर प्याला ।
जीवन के घट में समकित का, भरता है नित उजियाला ॥

++++++

अविरत सम्यग्दृष्टि, आत्मा की सदैव आराधना किया करता है । आत्मा ही उसका देव, आत्मा ही उसका शास्त्र और आत्मा ही उसका गुरु होता है । आत्म-मनन करने में ही उसके जीवन के अधिकांश क्षण बीतते हैं और जहां तक हो अपने जीवन को वह सम्यक्त्व के प्रकाश से ओत प्रोत किया करता है ।

पंचाचार वियानदि, परिनय सुद्ध भाव सम्मत्तं ।
जिन वयनं सद्दहनं, सद्दहनं सुद्ध ममल सम्मत्तं ॥६७४॥

++++++

अविरत सम्यग्दृष्टि जीव नित, पालन करता पंचाचार ।
शुद्ध भाव परणति ही होती, उसके जीवन का आचार ॥
श्री जिनेन्द्र प्रभु के वचनों का, करता है वह नित प्रतिपाल ।
आतमरूप ममल समकित में, रखता है निश्चल श्रद्धान ॥

++++++

अविरत सम्यग्दृष्टि जीव नित्यप्रति पंचाचारों का पालन किया करता है, भावों में शुद्ध परिणति रखना, यही उसके जीवन का मूलोद्देश्य होता है । जिनेन्द्र भगवान के वचनों में अटूट श्रद्धा रखते हुए वह "आत्मा ही परमात्मा है" इस मंत्र का नित्यप्रति मनन और चिन्तवन किया करता है ।

रागादि दोस विरयं, असुद्धं परिनाम भाव विरयंतो ।
विरइ पमाई सव्वं, विरयं संसारसरनि मोहंधं ॥६७५॥

✦✦✦✦✦✦

सम्यग्दृष्टि जन होता है, रागादिक दोषों से हीन ।
उसके मन मन्दिर में आते नहीं कभी परिणाम मलीन ॥
दूर दूर रहते हैं उससे, सब प्रकार के अशुभ प्रमाद ।
जग में अन्धा होकर जग के, वह न भोगता विषम विषाद ॥

✦✦✦✦✦✦

अविरत सम्यग्दृष्टि पुरुष रागादिक दोषों से मुक्त रहता है । उसके मन में प्रमाद और विकारी भाव भूलकर भी नहीं आ पाते । संसार में वह विवेकपूर्ण जीवन व्यतीत करता है, अन्धों के समान जीता रहकर वह संसार के दुख नहीं भोगता ।

✱

मिच्छात समय मिच्छा, समय प्रकृति मिच्छ सद्भावं ।
कषायं अनंतानं, तिक्तंति प्रकृति सप्त सद्भावं ॥६७६॥

✦✦✦✦✦✦

मिथ्यादर्शन की होती हैं, सप्त प्रकृतियें जो विकराल ।
अविरत सम्यग्दृष्टि उनका, छिन्न भिन्न कर देता जाल ॥
होती जो अनन्त अनुबंधी, चार कषायें मतवाली ।
नष्ट भ्रष्ट कर देता उनको, भी सम्यग्दृष्टी ध्याली ॥

✦✦✦✦✦✦

मिथ्यादर्शन की ७ प्रकृतियों को अविरत सम्यग्दृष्टी नाश कर देता है और अनन्तानुबंधी ४ कषायों को भी वह क्षीण कर देता है ।

जिन वयनं सद्दहनं, सद्दहै अप्प सुद्ध सद्‌भावं ।
मतिज्ञान रूव जुतं, अप्पा परमप्प सद्दहै सुद्धं ॥६७७॥

******

अविरत सम्यग्दृष्टी होता, जिनवाणी का भक्त महान ।
अमल शुद्ध ध्रुव आतम प्रभु में, रखता वह निश्चल श्रद्धान ॥
'आतम ही बस परमातम है', गाता है वह यह ही गीत
मति श्रुत और अवधि से, उसमें जग जाते हैं ज्ञान पुनीत ॥

******

अविरत सम्यग्दृष्टी जिनवाणी का परम भक्त होता है । आत्मा से वह प्रगाढ़ नेह रखता है और वह सदा ही आत्मा के पुनीत गीत गाता रहता है । आत्मज्ञान के बल से उसमें मति, श्रुत और यहां तक कि अवधिज्ञान भी जग जाते हैं ।

■

आरति रौद्रं च विरयं, धम्मध्यानं च सद्दहै सुद्धं ।
अविरय सम्माइट्ठी, अविरय गुनठान अव्रती सुद्धं ॥६७८॥

******

आर्त रौद्रध्यानों से रहता, अविरत सम्यग्दृष्टि विरक्त ।
धर्म ध्यान की ही चर्चा में, रहता वह नितप्रति आसक्त ॥
यद्यपि पंचाचार नियम से, वह न पालने पाता है ।
परमशुद्ध भावों के कारण, तो भी श्रेष्ठ कहाता है ॥

******

अविरत सम्यग्दृष्टि, आर्त और रौद्र सरीखे भयंकर ध्यानों से सदैव दूर रहता है और वह अपना समय सदा धर्मध्यान की चर्चा में ही व्यतीत करता है । यद्यपि वह नियम से पंचाचारों का पालन नहीं करने पाता है, तो भी परमशुद्ध भाव रखने के कारण वह सदैव श्रेष्ठ पद ही पाता है ।

देस व्रत संजुत्तं, एको उद्देस वय गहै सुद्धं ।
अविरय गुन संजुत्तं, श्रुतज्ञानं च भाव उववन्नं ॥६७९॥

देशव्रती पालन करता है, एकदेश से पंचाचार ।
अविरत होते भी वह व्रत का, साधन करता भली प्रकार ॥
भावों में श्रुतज्ञान कि उसके, इतना भी बढ़ जाता है ।
आतम में जब देखो उसको, परमातम दिखलाता है ॥

देशव्रती श्रावक एकदेश शक्ति के अनुसार व्रतों को पालता है, यद्यपि वह भी अभी अविरत श्रावक ही रहता है, तो भी कषायों की मंदता हो जाने के कारण उसके व्रतों में अविरत सम्यक्ती की अपेक्षा अधिक परिपक्वता आ जाती है । उसके भावों में श्रुतज्ञान की मात्रा इतनी बढ़ जाती है कि जब देखो तब उसे अपने आतम में परमातम के दर्शन हुआ करते हैं ।

दंसन वय सामाई, पोसह सचित्त राय भत्तीए ।
बंभारंभ परिग्गह, अनुमनु उद्दिस्ट देस विरदोय ॥६८०॥
पंच अणुव्वयाइ, व्रत तप क्रियं च सुद्ध सद्भावं ।
ज्ञान सहाव ति सुद्धं, सुद्धं च अप्प परम पदविंदं ॥६८१॥

देशव्रती श्रावक होता है, ग्यारह प्रतिमा का धारी ।
पंच अणुव्रत से रहती है, उसकी जगमग जग क्यारी ॥
सरल शुद्ध भावों से वह नित, जप तप पालन करता है ।
आतम देश में ज्ञान विहंग पर, वह निर्द्वन्द्व विचरता है ॥

देशव्रती श्रावक ग्यारह प्रतिमाओं का धारी होता है, वह पंचाणुव्रतों का पूर्ण रूप से पालन करता है, जप करता है, व्रत करता है और यथाशक्ति तप करता हुआ अपने आतम कुंज में सदैव स्वच्छन्द रूप से विचरण किया करता है ।

अप्पा अप्प सरूवं, विरइय मिच्छात दोस संकाई ।
अब्यास सुद्ध धरनं, मनरोहो निय अप्पानं ॥६८२॥

******

देशव्रती अनुभव करता है, आतम का नित सत्य स्वरूप ।
धारण करता वह नित घट में, निर्मल समकित रत्न अनूप ॥
उसका अन्तरतम रहता है, संकल्पों से कोसों दूर ।
मन निग्रह कर आत्म मनन में, ही वह नित रहता है चूर ॥

******

देशव्रती श्रावक नित्यप्रति आत्मा के सत्य स्वरूप का अनुभव करता है। सम्यक्त्व से उसका घट छल छल किया करता है। संकल्प और विकल्प से कोसों दूर रहकर वह सदा आत्म-मनन ही किया करता है।

मनवयन काय सुद्धं, उत्तं सभाव सुनिश्च जिनवयनं ।
दर्सं पत्त विसेषं, एको उद्देस देसव्रत ग्रहनं ॥६८३॥

******

मन वच काय शुद्ध करके जो, जिन वचनों को धरता है ।
आत्म कुंज में विहंग तुल्य जो, नित्य उड़ानें भरता है ॥
जो अपने में श्रेष्ठ पात्र है, और कि अपने में दातार ।
होता है ऐसा ही श्रावक, पंचम गुणस्थान आगार ॥

******

जो मन, वचन और काय को शुद्ध करके जिनेन्द्र के वचनों को हृदय में धारण करता है, नित्यप्रति जो आत्मा के कुञ्ज में विहरण करता है तथा जो अपने ही में दाता और अपने ही में दान का श्रेष्ठ पात्र होता है, वही पंचम गुणस्थानवर्ती श्रावक होता है।

अविरय भाव सजुत्तं, अनुवय भाव सुद्ध संधरनो ।
धम्म झानं झायदि, मतिश्रुतज्ञान मंजुदं सुद्धं ॥६८४॥

◆◆◆◆◆

होते हैं प्रमत्त विरती जन, पूर्ण महाव्रत के धारी ।
द्वादश विधि अविरत भावों के, होते हैं वे परिहारी ॥
मति श्रुत ज्ञानों के होते हैं, वे विशुद्ध निर्मल भण्डार ।
धर्म ध्यान पर चढ़के करते, निजानन्द में सतत विहार ॥

◆◆◆◆◆◆

प्रमत्त विरत गुणस्थान वर्ती श्रावक अविरत भाव से विरक्त होकर महाव्रतों में आचरण करते हैं । वे शुद्ध मति व श्रुतज्ञान के धारी होते हैं और धर्मध्यान में आरूढ़ होकर वे सतत आत्मानन्द में ही मगन रहा करते हैं ।

◆

अवहि उवन्नो भाओ, वयगहनं भाव संजदो सुद्धो ।
विरओ संसार सरीरो, भोगं त्यजंति भोग उवभोगं ॥६८५॥

◆◆◆◆◆◆

होता है प्रमत्त विरती जन, अवधिज्ञान का पात्र महान ।
पंच महाव्रत का अधिनायक, संयम का उत्कृष्ट निधान ॥
भव तन भोगों की कारा से, वह विमुक्त हो जाता है ।
भोग और उपभोगों से वह, रखता नेक न नाता है ॥

◆◆◆◆◆◆

प्रमत्त विरती श्रावक अवधिज्ञान का पात्र होता है । वह महाव्रतों को ग्रहण करता हुआ शुद्ध भाव संयम को पालता है । संसार, शरीर और भोगों से वह विरक्त हो जाता है और भोगोपभोगों से वह किसी प्रकार का नाता नहीं रखता है ।

संमत्त सुद्ध चरनं, अवहिं चिंतेइ सुद्ध स सरूवं ।
अप्पा परमप्पानं, परमप्पा निम्मलं सुद्धं ॥६८६॥

करता है प्रमत्त विरती नित, सम्यग्दर्शन का चिन्तन ।
अवधिज्ञान का और स्वात्म का, करता है वह नित दर्शन ॥
"आतम ही बस परमातम है, परमातम है आतमराम ।"
यही चिन्तवन करते करते, पा जाता वह पद अभिराम ॥

प्रमत्त विरत गुणस्थान का धारी श्रावक नित्यप्रति सम्यग्दर्शन में आचरण करता है । वह अवधिज्ञान और आत्मा के स्वरूप का नित्यप्रति चिन्तन करता है और आत्मा ही परमात्मा है, इस पद को जानकर सदा निजानन्द में ही मगन रहा करता है ।

ग्रंथं बाहिर भिंतर, मुक्का संसार सरनि सद्भावं ।
महाव्रय गुन धरनं, मूलगुनं धरन्ति सुद्ध भावेन ॥६८७॥

अंतरंग बहिरंग परिग्रह, चतुर्विंश जो होते हैं ।
उनको खो, प्रमत्त विरतीजन निर्विकल्प हो सोते हैं ॥
भव का पोषक मार्ग छोड़ वे, धरते महाव्रतों की राह ।
मूल गुणों की बांह पकड़ वे, पाते हैं सुख शान्ति अथाह ॥

प्रमत्त विरत गुणस्थानवर्ती अंतरंग और बहिरंग जो २४ परिग्रह होते हैं, उनके त्यागी होते हैं । महाव्रतों का अंचल पकड़कर वे हमेशा शुद्ध भावों से अपने मूलगुणों की रक्षा करते रहते हैं ।

दंसन दहविहि भेयं, ज्ञानं पंच भेय उवएसं ।
तेरह विहस्य चरनं, ज्ञान सहावेन महावयं सुद्धं ॥६८८॥

******

होते जो प्रमत्त विरती जन, महाव्रती निर्ग्रन्थ महान ।
पंचज्ञान, दशविधि दर्शन का, देते हैं वे नित प्रतिदान ॥
तेरह विधि का होता है जो, ममल पूर्ण सम्यग्चारित्र ।
उसमें रमकर वे पा जाते, आत्मज्ञान सा रत्न पवित्र ॥

******

प्रमत्त विरती श्रावक दश प्रकार के दर्शन और पांच प्रकार के ज्ञानों को पालते हुए उनका दूसरों को भलीभांति उपदेश देते हैं । तेरह विधि का चारित्र भी वे भलो प्रकार पालते हैं, और इस तरह महाव्रतों के पालन से वे आत्मज्ञान का अटूट कोष पा जाते हैं ।

ध्यानं च धम्म सुक्कं, आरति रौद्रं न दृष्टि दिस्टंतो ।
अप्पा परमप्पानं, ज्ञान सहावेन महावयं हुंति ॥६८९॥

******

होते हैं प्रमत्त विरती जन, षष्ठम गुणस्थान धारी ।
धर्म, शुक्ल अपना, वे बनते आर्त रौद्र के परिहारी ॥
आतम ही बस परमातम है, होता उनका मन्त्र ललाम ।
आत्मज्ञान से बन जाते हैं, वे जन महाव्रती अभिराम ॥

******

प्रमत्त विरती श्रावक धर्म शुक्ल ध्यानों के ध्याता होते हैं । आर्त और रौद्रध्यानों का वे सपने तक में ध्यान नहीं करते हैं । 'आत्मा ही परमात्मा है' बस यही उनका एक पुण्य मन्त्र होता है और वे अंतरंग से महाव्रतों को पालते हुए अपना अभीष्ट पद पा जाते हैं ।

अप्रमत्त अप्रमानं, धर्म्म सुक्क च ज्ञान निम्मलं सुद्धं ।
अवहिविधि संजुत्तो, खिय उवसम भाव संसुद्धं ॥६१०॥

✦✦✦✦✦✦

अप्रमत्त, नय से, प्रमाण से पूर्ण रहित है, श्रेष्ठ महान ।
धर्म, शुक्ल दोनों ध्यानों का, गुणस्थान यह भव्य निधान ॥
अवधि ज्ञान की सी विभूतियें, यहीं साधुगण पाते हैं ।
क्षय उपशम के भाव सलोने एक यहीं दिखलाते हैं ॥

✦✦✦✦✦✦

अप्रमत्त सातवां गुणस्थान प्रमाण, नय आदि की कल्पना से रहित है। इस गुणस्थान में धर्म व शुक्ल ध्यानों की विशेषता होती है। इस गुणस्थान में साधक को अवधि ज्ञान तक की प्राप्ति हो जाती है। इसमें बारह कषायों का उदयाभाव रूप क्षय तथा उपशम रहता है। ४ कषाय व नौ नो कषाय का भी उदय रहता है, किन्तु अति मन्द रूप से।

▣

त्यक्तं रूव सुदिट्ठी, विगतं संसार सरनि सद्भावं ।
सुद्धं परमानन्दं, ज्ञान सहावेन सुद्ध तव यरनं ॥६११॥

✦✦✦✦✦✦

आतम प्रभु का होता है जो, वचनातीत अमूर्त स्वरूप ।
उसी रूप को प्रगट देखता, निर्विकल्प निर्ग्रन्थ अनूप ॥
पर्णों सा ठुकरा देता है, वह विषयारंजित संसार ।
ध्यान अग्नि में पड़कर वह नित, होता रहता है अविकार ॥

✦✦✦✦✦✦

अप्रमत्त गुणस्थानवर्ती साधु अपने आत्मा के प्रगट रूप को भली प्रकार अनुभव करता है। वह संसार के भोगों को तिनकों के समान ठुकरा देता है और ज्ञान स्वभावी आत्मा में ठहरकर, ध्यान अग्नि में तपता हुआ, कर्मों की निर्जरा करता है।

अपूर्वं करण अपूर्वं, अवधिं सुंजुत्त निम्मलं सुद्धं ।
ज्ञान सहावं नित्यं, अप्पा परमप्प भाव संजुत्तं ॥६९२॥

होता है अपूर्व करणीजन, ध्रुव अपूर्व गुण का धारी ।
अवधि ज्ञान तक से हो जाती, उसकी रंजित फुलवारी ॥
ज्ञान सरोवर ही होता है, उसकी क्रीड़ा का आगार ।
आतम परमातम में ही बस, खाता वह गोते प्रतिबार ॥

अपूर्व करण गुणस्थान वर्ती साधु के अपूर्व उज्वल भाव होते हैं। इसमें से कई साधकों को अवधि ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है । वह नित्यप्रति ज्ञान-सरोवर में ही क्रीड़ा किया करता है और आत्मा तथा परमात्मा के कुंजों में ही नित्य प्रति उसका विचरण हुआ करता है ।

अनिवरतं ससहावं, सुद्ध सहावं च निम्मलं भावं ।
षय उवसम सद्द अर्थ, ज्ञान सहावेन अनिवतंयं सुद्धं ॥६९३॥

बिखता है अनिवृत्तिकरण में, यत्र तत्र बस आतमराम ।
इस गुण का धारी होता है निर्मल भावों का संग्राम ॥
क्षपक या कि उपशम श्रेणी का, होता है वह पात्र महान ।
परमसत्य आतम प्रभु का ही, करता है वह पल पल ध्यान ॥

अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में साधु सदा अपने में ही स्थित रहता है । वह निर्मल भावों का एक अनूठा पुंज होता है । वह क्षपक या उपशम श्रेणी का धारी होता है और सत्य, अस्ति-रूप आत्म पदार्थ का ही वह नित्य प्रति मनन और चिन्तवन करता है ।

सूक्षम भाव संजुत्तं, क्षय उवसम भाव संजदो सुद्धो ।
निम्मल सुद्ध सहावं, अप्पा परमप्प निम्मलं सुद्धं ॥६१४॥

******

क्षपक या कि उपशम श्रेणोवर, सूक्ष्म सांपरायो मतिमान ।
करता है जगतो में केवल, निर्विकार आतम का ध्यान ॥
रहता है वह नित्य निरन्तर, निज स्वभाव में ही आरूढ़ ।
आतम परमातम का ही वह, सदा चिन्तवन करता गूढ़ ॥

******

सूक्ष्म सांपरायी क्षपक श्रेणी पर या उपशम-श्रेणी पर चढ़ता हुआ, सदा निर्मल शुद्ध स्वभाव में-स्थिर रहता है । आत्मा को परमात्मा जानता हुआ, वह सदा आत्मा का ही अनुभव करता रहता है ।

*

घाय चवकय विरयं, नंत चतुष्टय भावना सुद्धं ।
कम्ममल पयडि तिक्तं, ज्ञान सहावेन सूक्षमं परमं ॥६१५॥

******

सूक्ष्म सांपरायी रहता है, चतुर्घातिया वेदन होन ।
पुण्य चतुष्टय को करता वह, भव्य भावना नित्य नवीन ॥
कर्मों की सारो प्रकृतियां, वह झकझोर बहाता है ।
परम सूक्ष्म आतम में ही बस, परम शान्ति वह पाता है ॥

******

सूक्ष्म साम्पराय गुणस्थान वर्ती साधु चार घातिया कर्मो से वेदन विमुक्त रहता है, चार चतुष्टयों की वह नित्य भावना किया करता है । कर्मों की सारी प्रकृतियों को वह झकझोर कर बहा देता है और सदैव आत्म चिंतवन में ही मगन रहा करता है ।

उवसंतोय कषायं दर्सन मोहंध उवसमं सुद्धं ।
संसार सरनि तिक्तं, उवसंतो पुण्य सव्वहा सव्वे ॥६९६॥

✦✦✦✦✦

दर्शन मोहनीय सा दुर्दम, कर्म जहाँ हो गया विलीन ।
यह संसार बढ़ाने वाली, राह बनी जिस थल गतिहीन ॥
यथाख्यात चारित्र मात्र ही एक जहाँ करता किल्लोल ।
होता है उपशांत-मोह-सा, गुणस्थान बस वहीं अमोल ॥

✦✦✦✦✦✦

जहाँ पर दर्शन मोहनीय, उपशम या क्षीण होता है, चरित्र मोहनीय भी जहाँ निर्बल हो जाता है तथा जहाँ पर यथाख्यात चारित्र का उदय हो जाता है वहीं उपशान्तमोह नाम के ग्यारहवें गुणस्थान के दर्शन होते हैं ।

✵

सुद्धो सुद्धादेसो सुद्धो परमप्प लीन संजुत्तो ।
षय उवसम संजुत्तो, ज्ञान सहावेन चरन्ति तवयरनं ॥६९७॥

✦✦✦✦✦✦

होते हैं उपशान्त मोह के, धारी साधु विराग महान ।
उनके अंतर में नित जगमग, करता ज्योतिर्मय श्रुतज्ञान ॥
होते हैं वे परम समुज्ज्वल, क्षायिक समकित के धारी ।
होकर तप में मग्न छानते, वे नित निज की फुलवारी ॥

✦✦✦✦✦✦

उपशांत मोह गुणस्थानवर्ती साधु श्रुतज्ञान के धारी होते हैं । वे नित्य निरन्तर अपने निज-स्वभाव में ही लीन रहा करते हैं । वे परम शुद्ध क्षायिक सम्यक्त्व के धारी होते हैं और ज्ञानस्वभाव में तिष्ठकर निश्चय तपश्चरण करते रहते हैं ।

षीन कषायं उत्तं, षीनं घाय कम्ममल मुक्कं ।
षीयंति षीन मोहो, ज्ञान सहावेन चरन्ति तवयरनं ॥६९८॥

⁂

सूक्ष्म मोह को भी विनष्ट कर, जो कर देते भस्मीभूत ।
तप में दृढ़ हो, जो मल लेते, हैं कर्मों को अंग भभूत ॥
शेष नहीं जिन पर रह जाते, तीन घातियों के अवशेष ।
क्षीणमोह धारी कहलाते, वही साधु निर्ग्रन्थ जिनेश ॥

⁂

जो इस सूक्ष्म मोह को भी क्षय करके मोहनीय कर्म की सर्व वर्गणाओं से रहित हो जाते हैं, तीन घातीय कर्मों को भी जो नष्ट कर देते हैं तथा ज्ञान स्वभाव में तिष्ठकर जो निरन्तर तपश्चरण ही करते हैं, वही क्षीणमोह गुणस्थान के धारी कहलाते हैं।

⁂

मनपर्यय उववन्नं, धम्मं सुक्कं च निम्मलं रूवं ।
रूवातीत सहावं, ज्ञान सहावेन अप्प परमप्पं ॥६९९॥

⁂

क्षीणमोह के धारी पहिले, धर्मध्यान को ध्याते हैं ।
धर्मध्यान से शुक्ल, शुक्ल से क्षीण मोह को पाते हैं ॥
इस पद में मन पर्यय तक के, हो जाते हैं वे धारी ।
ज्ञान रूप में तिष्ट निरखते, निजानन्द को वे क्यारी ॥

⁂

क्षीणमोह गुणस्थान के धारी सातवें गुणस्थान तक धर्मध्यान को और इसके पश्चात् शुक्ल ध्यान को ध्याते हुए यह गुणस्थान प्राप्त करते हैं। इस पद में वे मनपर्यय ज्ञान तक के धारी हो जाते हैं। इस गुणस्थान में वे अमूर्तीक आत्मा के स्वभाव में लीन होकर निजानन्द की ही छवि निरखते हैं।

सजोग केवलिनो, आहार निहार विवज्जिओ सुद्धो ।
केवल ज्ञान उवन्नो, अरहन्तो केवली सुद्धो ॥७००॥

******

होते हैं सजोग केवलि जिन, वीतराग त्रिभुवन वन्दन ।
जो आहार निहार द्वयों का, भी कर देते निष्कन्दन ॥
चार घातिया कर्म जीत वे, पा जाते हैं केवल ज्ञान ।
जिनका दर्शन मात्र पलों में, कर देता क्षय कर्म महान ॥

******

सजोग केवली गुणस्थान के धारी आहार व निहार दोनों से रहित होते हैं। उनको केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है और वे ही अरहन्त परमात्मा कहलाते हैं ।

*

अयोग केवलिनो, परमप्पा निम्मलो सहावं ।
आनन्द परमानन्द, नन्त चतुष्टय मुक्ति संपत्तो ॥७०१॥

******

जब अघातिया कर्मों का भी, हो जाता है पूर्ण विनाश ।
तब अयोग केवलि का जगता अन्तरतम में शुभ्र प्रकाश ॥
कर लेते अयोग केवलि जिन, योगों की हलचल भी पार ।
पाकर सहज स्वरूप, मुक्ति के, बन जाते हैं वे भरतार ॥

******

अयोग केवली निर्मल और शुद्ध परमात्मा ही होते हैं। वे स्वाभाविक परमानन्द में मगन रहते हैं और अनन्त चतुष्टय सहित मुक्ति में निवास करते हैं ।

सिद्धं सिद्ध सरूवं, सिद्धं सिद्धि सौख संपत्तो ।
नंदो परमानन्दो, सिद्धो सुद्धो मुनेअव्वा ॥७०२॥

******

सिद्ध वही, कृतकृत्य हुए जो, जिन्हें न अब कुछ करना शेष ।
सिद्धि खड़ी जिनके द्वारों पर, ले पहरेदारों का वेष ॥
निजानंद में हो गाते हैं, निर्विकल्प सुख के जो गान ।
वही निरंजन अविनाशो हैं, परमानन्द सिद्ध भगवान ॥

*****

सिद्ध वही कहलाते हैं, जो कृतकृत्य हो चुके, जिन्हें अब कुछ करना शेष नहीं । जो निजानन्द में निशिवासर मगन रहते हैं, सिद्धियें जिनके द्वार पर विद्यमान रहती हैं, वही सिद्ध भगवान कहलाते हैं ।

*

ए चौदस गुन ठानं, रूवं भेयं च किंचि उवएसं ।
ज्ञान सहावे निपुनो, कंमेनय विमल सिद्ध नायव्वो ॥७०३॥

******

चौदह गुणस्थान का जो यह, दिया गया है सत् उपदेश ।
इसको वे समझें, वे सोचें, जिनके ढिग है ज्ञान अशेष ॥
गुणस्थान की यही सीढ़ियां, बस उस मन्दिर जाती हैं ।
जिस मन्दिर में सिद्ध प्रभो को, किरणें सूर्य जगाती हैं ॥

******

चौदह गुणस्थानों का जो ऊपर वर्णन किया गया, जिनके पास ज्ञान का कुछ पाथेय है अथवा जो मुमुक्षु हैं—वे इसे सोचें समझें । गुणस्थानों के ही कर्मों से मनुष्य को सिद्धि प्राप्त होती है, गुणस्थानों के उपदेश का यही सार है ।

—: स्वर और व्यंजनों पर आत्मा का बोध :—

ॐ वंकारं च ऊर्धं, ऊर्ध सहावेन परमेष्ठि संजुत्तो।
अप्पा परमप्पानं, विंदस्थितं जान परमप्पा ॥७०४॥

++++++

ओंकार सर्वोच्च तत्व है, परम श्रेष्ठ है ऊर्ध्व महान।
इस पद में करते निवास नित, परमेष्ठी जिनवर भगवान॥
शुद्ध आत्मा का यह पद है, पूर्ण सत्य प्रतिनिधि अभिराम।
करते जिसके ऊर्ध्व बिन्दु में, केलि स्वयं सर्वज्ञ ललाम॥

++++++

ओंकार संसार में सर्वोच्च तत्व है। इस पद में परमेष्ठी भगवान निवास करते हैं; आत्मा का यह निर्मल प्रतीक है। इसके ऊर्ध्व बिन्दु में केवली-भगवान क्रीड़ा करते हैं।

✵

ज्ञानं सुद्धं सहावं ज्ञानमयं परमप्प संसुद्धं।
ज्ञानं ज्ञान सरूवं, अप्पा परमप्प सुद्धमप्पानं ॥७०५॥

++++++

सिद्ध प्रभो होते हैं निर्मल, शुद्ध ज्ञान के पारावार।
और इसी से कहलाते वे, नित्य निरंजन ज्ञानाकार॥
ज्ञान रूप वे स्वयं, जगाते और ज्ञान की ही वे जोत।
क्योंकि ज्ञान ही है आतम का, परमातम बनने का स्रोत॥

++++++

सिद्ध प्रभो निर्मल शुद्ध ज्ञान के पारावार होते हैं। वे ज्ञानाकार रहते हैं और निरन्तर ज्ञान से ज्ञान की ही ज्योति प्रज्वलित किया करते हैं।

ममात्मा ममलं सुद्धं, सुद्ध सहावेन तिअर्थं संजुत्तं ।
संसार सरनि विगतं, अप्पा परमप्प निम्मलं सुद्धं ॥७०६॥

******

सिद्ध प्रभो सा हो निर्मल है, मेरा भी यह आतमराम ।
इसके ढिग भी रत्नत्रय सा, जगमग जगमग रत्न ललाम ॥
भव को भ्रामक पगडंडी से, मेरा आतम कोसों दूर ।
जितने भी परमात्म तत्व हैं, मैं उन सबसे हूँ भरपूर ॥

******

मेरा आत्मा भी सिद्ध भगवान के समान ही निर्मल और पवित्र है, उसके समीप भी रत्नत्रय का जगमग जगमग करता हुआ अक्षय कोष है । संसार को ले जाने वाले मार्ग से, मेरी आत्मा कोसों दूर है और जो भी तत्व परमात्मा को बनाने में सहायक होते हैं, वे सब मेरे भीतर विद्यमान हैं ।

*

ॐ वं नमः एकत्वं, पद अर्थं नमस्कार उत्पन्नं ।
ॐ वंकारं च विंदं, विंदस्थं नमामि तं सुद्धं ॥७०७॥

******

ओम नमः में नितप्रति करते, हैं परमेष्ठी पंच रमण ।
ओम नमः से इससे होता, परमेष्ठी प्रभु को वन्दन ॥
किन्तु ओम का विन्दु मुक्ति को, करता है जैसे साकार ।
अतः ओम से आतम को ही, होता नमस्कार प्रतिबार ॥

******

'ओम नमः' में पंच परमेष्ठी प्रभु रमण करते हैं और इसी से ओम की की हुई वंदना पंच परमेष्ठी की वंदना होती है । ओम का विन्दु मुक्ति का प्रतीक है, अतः ओम को किया हुआ नमस्कार आत्मा को किये गये नमस्कार के समान ही होता है ।

सिद्धं सिद्धि सदर्थं, सिद्धं सुद्धं च निम्मलं विमलं ।
दरसन मोहंध विमुक्कं, सिद्धं सुद्धं समायरहिं ॥७०८॥

++++++

ओम मंत्र से जिन सिद्धों को, होता नमस्कार अविराम ।
वे हैं सिद्ध वही, जिनके हैं, सिद्धालय में पावन धाम ॥
रागद्वेष से, मोह मलों से, जो हैं निर्मल और पुनीत ।
उन्हीं सिद्ध-से आतम प्रभु में, होवे युग युग की प्रीत ॥

++++++

ओम मंत्र के स्मरण से जिन सिद्धों को नमस्कार होता है, वे सिद्ध, सिद्धालय के वासी होते हैं। चूंकि हमारी आत्मा भी सिद्धों की आत्मा ही होती है, अतः ओम मंत्र को नमस्कार करने से हमारी स्वयं की ही आत्मा को ही नमस्कार होता है।

✱

धम्मं च चेयनत्वं, चेतना लक्षने हि संजुत्तं ।
अचेत असत्य विमुक्कं, धम्मं संसार मुक्तिसिवपंथं ॥७०९॥

++++++

धर्म किसे कहते हैं भव्यों ! कहो धर्म का क्या लक्षण ?
धर्म वही, मुखरित हो बोले, जिसमें चेतनता क्षण क्षण ॥
जो अचेत से और असत से अपना राग छुड़ाता है ।
मुक्ति नगर को पहुँचावे, धर्म वही कहलाता है ॥

++++++

जिसमें चेतनता के दर्शन हों, वही धर्म होता है। दूसरे शब्दों में जो अचेत और असत पदार्थ से राग को छुड़ाकर, हमें मोक्षनगर में प्रतिष्ठित करे, वही धर्म कहलाता है।

पंच अक्षर उत्पन्नं, पंचम ज्ञानेन समं संजुत्तं ।
रागादि मोह त्यक्तं, संसारे तरंति सुद्ध सद्भावं ॥७१०॥

******

इस पंचाक्षर भव्य मंत्र को, जो नित करता है अर्चा ।
पंचज्ञान से पूर्ण आत्म को जो नित करता है चर्चा ॥
रागद्वेष से मुक्त आत्म को, जो अनुभव में लाता है ।
वह इस भवसागर में फिर से, नहीं डूबने आता है ॥

******

जो 'ॐ नमः सिद्धं, इस पंचाक्षरी मंत्र से उत्पन्न आत्मा नित्यप्रति चिन्तवन करता है और पंचज्ञान के धारी इस आत्मा को जो, शुद्धात्मा के रूप में नित्यप्रति ध्याता है, वह संसार सागर से सदा के लिये हो जाता है ।

✸

अप्प सहावं सुद्धं, अप्पा सुद्धप्प सद्दहइ सुद्धं ।
संसार भाव मुक्कं, अप्पा परमप्पयं च संसुद्ध ॥७११॥

******

'अप्पा' का सत् चित स्वभाव है, ध्रुव पुनीत निर्मल पावन ।
इससे आतम--परमातम का ही श्रद्धान करो हे मन ॥
आतम की तरणी पर चढ़कर उचित यही भवपार करो ।
आतम से परमातम बनकर मुक्ति पंथ में चरण धरो ॥

******

आत्मा का सत्, चित, ध्रुव पुनीत स्वभाव है, इससे हे भाइयो ! सदा आत्मा का ही श्रद्धान करो और मुक्ति पंथ के राही बनो ।

आदि अनादि सुद्धं, सुद्ध सचेयन अप्प सद्भावं ।
मिथ्याराग विमुक्कं, आकारे विमल नम्मलं सुद्धं ॥७१२॥

******

'आदि' अनादि अपेक्षाकृत जो, सर्व बंधनों से है हीन ।
कलुषित रागद्वेष को जिस पर, पड़ती छाया नहीं मलीन ॥
चेतनता के पुण्य राग से, जिसका सुरभित है प्याला ।
उसी शुद्ध आतम का नितप्रति, करो चितवन मतवाला ॥

******

जो आदि अनादि सर्व बंधनों से हीन है, राग-द्वेष की मलिन छाया जिस पर कभी नहीं पड़ती तथा चैतन्यता जिसमें पग पग पर ध्वनित होती है, उसी आत्मा का, हे मन ! तुम चितवन करो ।

इस्ट संजोयं सुद्धं, इय दंसन ज्ञान चरन सुद्धानं ।
मिथ्या सल्य विमुक्कं, अप्पा परमप्पयं च जानेहि ॥७१३॥

******

दर्शन ज्ञान चरण तीनों का, जहां त्रिवेणी सा है योग ।
नेह लगाना उस आतम से, सच्चा यही 'इष्ट संयोग' ॥
यही इष्ट संयोग कि करना, उस आतम से ही बस प्रीत ।
मिथ्या शल्यों से विमुक्त जो, परमातम सा परम पुनीत ॥

******

दर्शन ज्ञान और आचरण जहां तीनों का त्रिवेणी का संगम है, उसी आत्मा को इष्ट समझकर उससे नेह लगाना बस यही वास्तविक 'इष्टसंयोग' है । जो मिथ्या शल्यों से विरक्त है तथा परमात्मा सा जो परम पवित्र और महान है, उसी आत्मा से मिलन होना, यही वास्तविक 'इष्टसंयोग' है ।

ईर्जा पंथ निवेदं, तिंअर्थं संजुत्त ज्ञान संपन्नं ।
कुज्ञान मोह विरयं, ईर्जा पंथ सु निम्मलं सुद्धं ॥७१४॥

रत्नत्रय के सहित जहां पर, करता नित विज्ञान किलोल ।
उसी आत्म—पथ पर पग धरना, यही 'ईर्या पथ' अनमोल ॥
यही ईर्या पंथ पकड़ना, राह यही बस सुखदाई ।
जिस पथ पर कुज्ञान मोह के, कंटक रंच न हों भाई ॥

जहां रत्नत्रय के सहित विज्ञान भी किल्लोल करता है, उसी आत्मा के अनुगामी बनना, यही ईर्यापंथ है। जहां पर कुज्ञान या मोह के कांटे न हों, उसी पंथ पर चरण धरना, बस यही ईर्यापंथ का चुनाव करना है।

उत्पन्न ज्ञान सुद्धं, ज्ञानमई निश्च तत्त ससरूवं ।
तत्त अतत्त निवेदं, मलमुक्कं च दंसनं अमलं ॥७१५॥

आत्म तत्व के नित अनुभव से, हुआ जिसे 'उत्पन्न' सुज्ञान ।
तत्व—अतत्व खरे–खोटे की, जिसे हो गई है पहिचान ॥
वह ही इस आतम का जग में, सच्चा परम पुजारी है ।
वही विवेकी सच्चा निर्मल, सम्यग्दर्शन धारी है ॥

आत्म तत्व के अनुभव से जिसका ज्ञान निखर गया है तथा आत्मतत्व के ज्ञान से जिसको खरे और खोटे की पहिचान हो गई है, वही विवेकी पुरुष सच्चा आतमा का पुजारी कहलाता है और वही भेद विज्ञानी सच्चा सम्यग्दर्शन का धारी होता है।

ऊर्धं ऊर्ध समावं, ऊर्धं संजुत्तु दिट्ठि दंसनं अमलं ।
विषय कषाय विमुक्कं, ऊर्ध सम्मत्त सुद्ध संवरनं ॥७१६॥

******

'ऊर्ध्व' उच्च पद में बसते हैं, सिद्धालय वासी भगवान ।
वे भगवान कि जिनने जोते, आठों दुर्दम कर्म महान ॥
विषय कषायों से विमुक्त मैं, मैं भी सिद्धालय वासी ।
इसी भावना में बस बसता, सम्यग्दर्शन अविनाशी ॥

******

सम्यग्दृष्टि जीव नित्यप्रति यही अनुभव किया करता है कि सिद्ध प्रभो ऊर्ध्व पद ओम में वास करते हैं । उन्होंने आठों अजेय कर्मों को जीत लिया है मैं विषयों से मुक्त शुद्धात्मा हूं, और सिद्ध भगवान के समान मेरा भी देहरूपी सिद्धालय में निवास है ।

*

ऋजु विपुलं च सहावं, सुद्ध ज्ञानेन ज्ञान संजुत्तं ।
संसार सरनि विरयं, अप्पा परमप्प सुद्ध सद्‌भावं ॥७१७॥

******

'ऋजु' विपुलों सा जिनने पाया, आत्मज्ञान के बल से ज्ञान ।
शुद्ध ज्ञान से शुद्धज्ञान की, जला रहे जो ज्योति महान ॥
नष्ट भ्रष्ट कर दी है जिनने, भव की यह भ्रामक जाली ।
पीते हैं बस वही संतजन परमातम पद की प्याली ॥

******

जिन्होंने ऋजु और विपुल, मनः पर्यय ज्ञान-सी निधियें प्राप्त की हैं, आत्मज्ञान से जो शुद्ध ज्ञान की ज्योतियें जगा रहे हैं तथा जिन्होंने संसार की परम्परा नष्ट कर दी है, ऐसे ही संत मुक्तिपद के अधिकारी होते हैं ।

रीनं कर्म कलंकं, रीनं चौगई संसार सरनि मोहंधं ।
रुचियंति ममल ज्ञानं, धम्मं सुक्कं च ममल अप्पानं ॥७१८॥

✦✦✦✦✦✦

पूर्ण रिक्त' कर डाले जिनने, मल से अपने आतमराम ।
जिन्हें नहीं इस भव में आना, और ठोकरें अब अविराम ॥
आतम के अर्चन पूजन में, रखते हैं जो गाढ़ी प्रीत ।
धर्म शुक्ल ध्यानों का वे ही, धरते हैं बस ध्यान पुनीत ॥

✦✦✦✦✦✦

जिन्होंने कर्मों के कलंक से अपनी आत्मा शुद्ध कर लिया है, संसार में जिन्हें अब और नहीं आना है तथा जो आत्मा के पूजन अर्चन में ही सतत मगन बने रहते हैं ऐसे संत पुरुष ही धर्म, शुक्ल ध्यानों में अपने मन-मर्कट को रमाने में सफल होते हैं ।

✱

लिगं च जिन वरिदं, छिन्नं परभाव कुमय अज्ञानं ।
अप्पा अप्प संजुत्तं, परमप्पा परम भावेन ॥७१९॥

✦✦✦✦✦✦

द्रव्य भाव 'लिंगों के जो हैं, श्री जिनेन्द्र के सम धारी ।
मिथ्यामति, परभावों के हैं, पूर्ण रूप जो परिहारी ॥
ऐसे संतों के आतम ही, यह संसार नशाते हैं ।
निज में लय होकर आतम से परमातम बन जाते हैं ॥

✦✦✦✦✦✦

जो जिनेन्द्र भगवान के समान ही द्रव्य और भाव लिंगों के धारी होते हैं तथा मिथ्यात्व को जो समूल नष्ट कर देते हैं, ऐसे संत ही इस संसार सागर को सुखाने में समर्थ होते हैं और वे ही आत्मा से परमात्मा पद पाते हैं ।

लीला अध सहावं, एयं संसार सरनि विगतोयं ।
एयं च सुद्ध भावं, सुद्धप्पा ज्ञान दंसनं सुद्धं ॥७२०॥

निज स्वभाव को ही निशिवासर, जो जन 'लीला' करते हैं ।
पर द्रव्यों को जो न कभी भी, भूल दृष्टि में धरते हैं ॥
ऐसे संतों के आतम ही, यह संसार नशाते हैं ।
निज में लय होकर आतम से परमातम बन जाते हैं ॥

जो निज स्वभाव में ही निरंतर क्रीड़ा किया करते हैं तथा आत्मा को छोड़कर पर द्रव्यों का भूलकर भी ध्यान नहीं धरते, ऐसे संतपुरुष ही इस संसार अटवी में फिर से नहीं भटकते और ऐसे संत ही आत्मा से परमात्मा पद को प्राप्त करते हैं ।

एयं सुद्ध सहावं, एयं संसार सरनि विगतोयं ।
एयं च सुद्ध भावं, सुद्धप्पा ज्ञान दंसनं सुद्धं ॥७२१॥

'एक' स्वयं के ही स्वभाव में, जो निशिवासर रमता है ।
मोह तिमिर से पूर्ण जगत में, जो जन भूल न भ्रमता है ॥
शुद्ध ज्ञान दर्शन में ही जो, करता है नित प्रित किल्लोल ।
एक दिवस वह जाता है, परमातम का पद अनमोल ॥

जो अपने शुद्ध स्वभाव में ही निरंतर किल्लोल करता है और अज्ञान से पूर्ण इस संसार में जो भ्रमण नहीं करता, वह मनुष्य एक दिन अवश्य ही मुक्ति पद पा जाता है ।

ऐयं इय अप्पानं, अप्पा परमप्प भावना सुद्धं ।
रागं विषय विमुक्कं, सुद्धं ससहावेन सुद्ध सम्मत्तं ॥७२२॥

******

आत्म और परमात्म 'ऐक्य' का होता जहां सदा गुंजन ।
होता है परमात्म तत्व का, जहां चिन्तवन और श्रवण ॥
राग और द्वेषों का खगदल, जहां न कलख करता है ।
वहीं शुद्ध सम्यग्दर्शन का, निर्मल झरना झरता है ॥

******

जहां आत्मा और आत्मा की ही नित्यप्रति चर्चा होती है, परमात्मा तत्व का ही जहां नित्यप्रति चिन्तवन होता है और राग और द्वेषों का झुंड जहां मक्खियों सा नहीं भिनभिनाता, वहीं और वही हृदय में सम्यग्दर्शन निवास करता है ।

ओं वं ऊर्ध सहावं, अप्पा परमप्प विमल ज्ञानस्य ।
मिथ्या कुज्ञान विरयं, सुद्धं च ममल केवलं ज्ञानं ॥ ७२३॥

******

'ओंकार' प्रतिपल करता है, परम मोक्ष पद को साकार ।
ओंकार पद है आतम, का जगमग—जग लड़ियों का हार ॥
तज मिथ्या कुज्ञान ओम् का, करता जो चिंतन प्रतिवार ।
उसके अंतर में जग जाती, कल कल कर केवल की धार ॥

******

ओंकार परममोक्षपद का पुनीत प्रतीक है और ओंकार ही आत्मा का जगमग जगमग करता हुआ प्रकाश का पुंज है । जो पुरुष मिथ्या कुज्ञान तजकर, ओम का प्रतिवार चिन्तवन करता है, वह एक दिन केवल्य तक का अधिकारी हो जाता है ।

ओंकारं उवएसं, ओंकारं विमल अप्पानं झानं ।
संसार विगतरूवं, ओंकारं लहन्ति निव्वानं ॥७२४॥

******

जिसकी अभिलाषा है पाऊं, "औसर" पाकर पद निर्वाण ।
जिसकी अभिलाषा है पाऊं, औसर पाकर भव से त्राण ॥
उसे यही उपदेश, तोड़ दे, वह सब कलुषित पर-बंधन ।
और नित्य प्रति आतम का ही, करे मनन, अर्चन, वंदन ॥

******

जिसकी यह अभिलाषा है कि मैं अविनाशी निर्वाण पद पाऊं या मेरा यह भीषण संसार छूट जाये उसे उचित है कि वह सारे भयावने पर द्रव्यों के बंधनों को तोड़कर अपने आत्मा का ही नित्य प्रति मनन और चिन्तवन करे ।

*

अप्पा परमप्पानं, घाय चवकय विमुक्त संसारे ।
रागादि दोस विरयं, अप्पा परमप्प निम्मलं सुद्धं ॥७२५॥

******

काट घातिया कर्म, तोड़कर राग द्वेष मल की जंजीर ।
और नष्ट कर भीषण भव का, दारुण दुस्सह भयानक पीर ॥
अंतर आतम परमातम में जब, बिलकुल खो जाता है ।
वह आतम से स्वयं शुद्ध हो, परमातम हो जाता है ॥

******

चार घातिया कर्मों को नाशकर, रागद्वेष की जंजीरें काटकर, और इस भीषण भव की ममता में अग्नि लगाकर, जब यह आत्मा अपने शुद्धस्वरूप में निश्चल होकर खो जाता है, तब वह सब कर्मों की निर्जरा करके स्वयं शुद्ध परमात्मा बन जाता है ।

अह अप्पा परमप्पा, ज्ञानं संजुत सुदंसनं सुद्धं ।
संसार सरनि विमुक्कं, परमप्पा लहै निव्वानं ॥७२६॥

******

ध्यान अग्नि धू धू कर हिय में, कर समकित से गाढ़ प्रतीति ।
और नष्ट कर अरहट जैसे, इस भव की यह मिथ्या प्रीति ॥
अहा ! आत्मा परमातम में जब, बिल्कुल ही खो जाता है ।
वह आतम से स्वयं शुद्ध हो, परमातम हो जाता है ॥

******

हृदय में ध्यान अग्नि प्रज्वलित कर, सम्यक्त्व से गाढ़ी प्रीति लगाकर और संसार, शरीर और भोग से ममता तोड़कर, जब यह आत्मा स्व स्वरूप में निश्चल होकर रम जाता है तब वह स्वयं परमात्मा बन जाता है ।

सुर चौदस संसुद्धं, नंत चतुष्टै विमल सुद्धं च ।
सुद्धं ज्ञान सरूवं, सुरविंदं ममल ज्ञान स सहावं ॥७२७॥

******

अ, आ, इ, ई, से अं अः तक होते चौदह स्वर भाई ।
उन्हीं स्वरों में प्रिय आतम की, मैंने धवल कीर्ति गाई ॥
चार चतुष्टय धारी आतम, ज्ञान गुणों का है आगार ।
ममल ज्ञान के हेतु आत्म का, करो चिन्तवन बारम्बार ॥

******

मैंने चौदह स्वरों में आत्मा का उपरोक्त निरूपण किया । सार यह है कि चार चतुष्टय धारी आत्मा ज्ञान और गुणों का भंडार है और ज्ञान की प्राप्ति के हेतु उसका बार बार चिन्तवन करना चाहिये ।

विंजन स एन सुद्धं, सुद्धप्पा ज्ञान दंसनं परमं ।
परमं परमानन्दं, ज्ञान सहावेन विंजनं ममलं ॥७२८॥

******

व्यंजन हैं तेतीस किन्तु बस व्यंजन हैं वे ही अभिराम ।
जिनका पा आलम्ब, मूर्तिमय बन जायें प्रभु आतमराम ॥
वे ही व्यंजन श्रेष्ठ कि जो हों, निजानंद प्रभु के दातार ।
वे ही व्यंजन श्रेष्ठ, बहावें जो कि ज्ञान का पारावार ॥

******

व्यंजन तैंतीस होते हैं, किन्तु वही व्यंजन श्रेष्ठ, जिनका आधार लेकर आत्मा परमात्मा बन जाये। श्रेष्ठ व्यंजन वही, कि जो निजानंद के दातार हों और जो ज्ञान का पारावार बहा दें।

✵

कक्का कम्म षिपनं, कक्का वर ज्ञान केवलं ज्ञानं ।
कक्का कमल सुवन्नं, कम्मं षिपति सुद्ध ज्ञानत्थं ॥७२९॥

******

कक्का का 'क' यह कहता है, कर्मों का कर दो तुम क्षार ।
और बनो कर्मों का क्षय कर, केवल रमणी के भरतार ॥
कक्का का 'क' यह कहता है, हृदय-कमल पर ध्यान धरो ।
कर्मों की जंजीर तोड़कर, यह भव सागर पार करो ॥

******

क, का का 'क' कहता है कि तुम कर्मों का क्षार कर, केवल रमणी के भरतार बनो, हृदय रूपी कमल पर ध्यान केन्द्रित कर कर्मों की जंजीर तोड़ भव समुद्र को पार करो।

षषा षिपति सुकर्म्मं, षिपक श्रेनि षवई संसारे ।
मिथ्या कुज्ञान षिपनं, अप्प सरूवं च ज्ञान सहकारं ॥७३०॥

✦✦✦✦✦✦

खखखा का 'ख' यह कहता है उठो खिपाओ कर्म अरे ।
क्षपक श्रेणि पर चढ़ने से ही, होते हैं भव सिन्धु--परे ॥
खखखा का 'ख' यह कहता है उठो खिपाओ मिथ्याज्ञान ।
मिथ्याज्ञान तभी छूटेगा, जब होगा आतम का ध्यान ॥

✦✦✦✦✦✦

ख, खा का 'ख' कहता है कि खिपाओ—कर्मों को खिपाओ ! क्षपक श्रेणी पर चढ़कर भवसिन्धु के पार उतरो । ख खा का ख कहता है खिपाओ—मिथ्याज्ञान को खिपाओ ! किस तरह ? शुद्धात्मा के ध्यान से ।

✱

गग्गा गगन सहावं, ज्ञानं ज्ञानं च अप्पयं विमलं ।
तिक्तं ति सयल मोहं विक्तं रूवेन भावना निश्रं ॥७३१॥

✦✦✦✦✦✦

गग्गा का 'ग' यह कहता है, है जिसका रे गगन स्वभाव ।
ज्ञान गुणागर उस आतम का, ही हो चिंतन में सद्भाव ॥
तोड़ो भव भव के इस भ्रामक, मोहबली का कारागार ।
आतम में हो मगन बहाओ, घट में निजानन्द की धार ॥

✦✦✦✦✦✦

ग, गा का ग कहता है कि गगन स्वभावी आत्मा का ही बारम्बार चिन्तवन करो । इस भ्रामक संसार की कारा को तोड़कर अपने घट में निजानन्द की धार बहाओ ।

घनघाय कम्म मुक्कं, घनअ समूह कम्म निछलनं ।
घन ज्ञान ज्ञान सुद्धं, सुद्धसरूवं च सुद्ध मप्पानं ॥७३२॥

घघ्घा का 'घ' यह कहलाता है, करो घातियों का तुम नाश ।
नाश करो तुम उन कर्मों का, जो देते भव भव में त्रास ॥
घघ्घा का 'घ' यह कहता है, ज्ञान-ध्यान-धन बरसाओ ।
निजस्वरूप से प्रोति लगाकर, अविनाशी पद को पाओ ॥

घ, घा का घ कहता है कि उन घातिया कर्मो का नाश करो, जो भव भव में त्रास दिया करते हैं । घ, घा का घ कहता है कि ज्ञान ध्यान रूपी धन को बरसाकर अविनाशी पद को प्राप्त करो ।

नानाप्रकार सुद्धं, ज्ञानं ज्ञानं च सुद्ध ससरूवं ।
निदलंति कम्म मलयं, नन्तानन्त चतुस्टयं ममलं ॥७३३॥

कहता है यह 'ङ' सुनो तुम, निर्विकार निर्मल जो ज्ञान ।
उसी ज्ञान का उसी ध्यान का, नित्य करो बस तुम श्रद्धान ॥
आतम का यह ज्ञान कर्म को, कर देता है चकनाचूर ।
अंतर के घट को कर देता, और चतुष्टय से भरपूर ॥

'ङ' कहता है कि जो निर्विकार और निर्मल आत्मा का ध्यान है, तुम उसी ध्यान, से और उसी ज्ञान से हेत करो ! आत्मा का यह ज्ञान ध्यान, कर्मों को चकनाचूर कर, अंतर पटल को चार चतुष्टय पूर्ण बना देता है ।

चेयन गुन संजुत्तं, चित्तं चितयन्ति तिय लोयं ।
गय संकप्प वियप्पं, चेयन संजुत्त अप्प ससरूवं ॥७३४॥

✦✦✦✦✦✦

चच्चा का च यह कहता है, छानो तुम त्रिभुवन का कुंज ।
'चेतन' ही पर तुम्हें मिलेगा, इसमें एक ज्ञान का पुंज ॥
आतम से जब हट जाते हैं, सब संकल्प विकल्प विकार ।
हो जाता है शुद्ध बुद्ध हो, वह तब वीतराग साकार ॥

✦✦✦✦✦✦

च, चा का 'च' कहता है कि चेतन ही संसार में सर्वोत्कृष्ट ज्ञान का पुंज है । जब आत्मा से सारे संकल्प विकल्प हट जाते हैं, तब वह स्वयं शुद्ध परमात्मा बन जाता है ।

✱

छहकाय क्रिया जुत्तं, क्रिया ससहावं सुद्ध परिनामं ।
संसार विषय विरयं, मल मुक्कं दंसनं अमलं ॥७३५॥

✦✦✦✦✦✦

छच्छा का 'छ' यह कहता है जिनमें दया धर्म का वास ।
'छै कायिक' जीवों को वे नर, कभी नहीं देते हैं त्रास ॥
नित्य नियम को यह करनी ही, बस परिणाम बनाती है ।
और इन्हीं परिणामों के बल, मुक्ति द्वार पर आती है ॥

✦✦✦✦✦✦

छ छा का 'छ' कहता है कि जिनमें दया धर्म का वास है वे छह कायिक जीवों को भूलकर भी त्रास नहीं देते । नित्य नियम ही परिणामों का बनाने वाला होता है और इन्हीं निर्मल परिणामों के आधार पर मनुष्य मुक्ति का पात्र बनता है ।

जैवंतं जिनवयनं, जैवंत विमल अप्प सहावं ।
कम्ममल पयडि मुक्क', अप्प सहावेन ज्ञान सहकारं ॥७३६॥

******

जज्जा का 'ज' यह कहता है, अजर अमर हो 'जिनवाणी' ।
जिसने आतम के जहाज से, पार किये लाखों प्राणी ॥
जज्जा का 'ज' यह कहता है, जिये कि 'जुग जुग' आतमराम ।
जिसके आराधन ही से नर, पा जाता है पद अभिराम ॥

******

ज, जा का 'ज' कहता है कि वो जिनवाणी अजर अमर हो, जिन्होंने आत्मा के जहाज के द्वारा लाखों प्राणी को संसार से पार कर दिया । ज, जा, का ज कहता है कि आतमराम 'जुग जुग' जिये, जिसका आराधन का सम्बल लेकर, आत्मा अभिराम पद प्राप्त कर लेता है ।

✱

ज्ञान सहावं सुद्ध', धम्मं सुक्क' च ज्ञान निम्मलयं ।
कम्मकलंक विमुक्क', ज्ञानमय ज्ञाना रुढ़ संजुत्तो ॥७३७॥

******

झझ्झा का 'झ' यह कहता है, 'ज्ञान' ध्यान ही है वह द्वार ।
जिससे हो, साधक पाता है, मुक्ति-सु'दरी का संसार ॥
धर्म शुक्ल दो ही प्रकार के ध्यान, ध्यान कहलाते हैं ।
कर्मों का कर नाश मनुज को, जो शिवपुर पहुँचाते हैं ॥

******

झ, झा का झ कहता है कि ज्ञान या ध्यान ही वह द्वार है, जिसमें होकर मनुष्य मुक्ति सुन्दरी के लोक को पहुंच जाता है । धर्म और शुक्ल बस यही दो ध्यान वास्तविक ध्यान कहलाते हैं, जो मनुष्य को मुक्ति प्रदान करने के कारण बनते हैं ।

नंतानंत सुदिट्ठी, नंतं संसार सरनि विलयंति ।
विलयंति कम्म मलयं, ज्ञान सहावेन सुद्ध सद्‌भावं ॥७३८॥

कहता है यह 'न' कि जो है, नंतानत गुणों का गेह ।
सबको छोड़ उसी आतम से, भाई एक करो तुम नेह ॥
आत्म चिंतवन से इस भव का, हो जाता है पथ संकीर्ण ।
हो जाता है शुद्ध बुद्ध वह, करके सारे कर्म विदीर्ण ॥

'न' कहता है कि जो अनन्तानन्त गुणों का भण्डार है, तुम उसी आत्मा से नेह करो— पर द्रव्यों के जंजाल मे न पडो । आत्म चितवन से संसार का पथ संकीर्ण हो जाता है और यह आत्मा कर्मों का नाश कर, शुद्ध बुद्ध परमात्मा बन जाता है ।

टंकोत्कीर्न ममलं, मल संसार सरनि विलयं च ।
अप्पसहाव सुदीट्ठं, निद्दिट्ठं संजदो रूवं ॥७३९॥

टट्ठा का 'ट' यह कहता है, आतम है निर्मल अविकार ।
होता है टंकोत्कीर्णमय', शुचि स्वभाव का यह आगार ॥
ममल स्वभावी इस आतम को जो अनुभव में लाता है
वही एक संयम का धारी, सच्चा साधु कहाता है ॥

ट, टा का 'ट' कहता है कि आत्मा टंकोत्कीर्ण स्वभाव का धारी है । जो इस ममल स्वभावी आत्मा का ध्यान करता है, वही संयम का धारण करने वाला सच्चा साधु कहलाता है ।

ठानं ज्ञानं झायदि, झायदि सुद्धं च ममल ज्ञानस्य ।
झायंति सुद्ध भावं, कम्ममल तिक्त असुह संसारे ॥७४०॥

ठठ्ठा का 'ठ' यह कहता है, होते हैं जितने भी 'ठौर' ।
उन सबमें निग्रंथ साधुगण, गहते बस आतम की ठौर ॥
शुद्ध आत्मा के भावों की ही, वे ध्यानाग्नि जलाते हैं ।
इसी अग्नि में कर्म जलाकर, अजर अमर पद पाते हैं ॥

ठ, ठा का ठ कहता है कि ठौर अनेक हैं, स्थान अनेक हैं, किन्तु निर्ग्रन्थ साधु, आतम की ठौर ही ग्रहण करते हैं । वे शुद्ध आत्मा का ही ध्यान करते हैं और इसी ध्यानाग्नि में कर्मों को जलाकर, अजर अमर पद प्राप्त करते हैं ।

डंड कपाटं दिट्ठं, दिट्ठं विमल दंसनं सुद्धं ।
मिथ्यातराग विलयं, संसारे तजंति मोहंधं ॥७४१॥

डड्डा का 'ड' यह कहता है, डंड कपाटी जो अरहन्त ।
उनके श्री चरणों में रखते, हैं जो मानव प्रीति अनन्त ॥
जो मिथ्यात्व मोह माया का, खंडित कर देते संसार ।
हो जाते हैं एक दिवस वे, इस भव अटवी के उस पार ॥

ड, डा का 'ड' कहता है कि डंड कपाटी अरहन्त प्रभु के चरणों में जो निमल प्रीति रखते हैं, वे एक दिन अवश्य ही मिथ्या मोह के संसार को खंडित कर संसार के उस पार हो जाते हैं ।

ढ परमप्पा झानं, ज्ञान सरुवं च अप्प सद्भावं ।
विकहा कषाय विरयं, अप्पापरमप्पा भावना सुद्धं ॥७४२॥

ढड्ढा का 'ढ' यह कहता है, जो निर्गुण प्रभु का यह ध्यान ।
वही ध्यान है इस आतम का, परमातम का ध्यान महान ॥
जहाँ व्यर्थ की चर्चायें या, जहाँ कषायें नहीं मलीन ।
वहीं आतम-परमातम ध्यान की, मधुर मधुर सुन पड़ती बीन ॥

ढ, ढा का 'ढ' कहता है कि जो निर्गुण परमात्मा का ध्यान है, वही ध्यानों में सर्वश्रेष्ठ ध्यान है। जहां व्यर्थ की चर्चायें या मलिन कषायें नहीं रहतीं, वहीं आत्मा और परमात्मा की मधुर चर्चायें सुनाती हैं।

नाना प्रकार दिट्ठं ज्ञान ज्ञानेन सुद्ध परमेष्ठि ।
ज्ञानेन ज्ञान सुद्धं, ज्ञान सहावेन सुद्ध स सहावं ॥७४३॥

णण्णा का 'ण' यह कहता है, अनंत चतुष्टय प्रभु का ध्यान ।
विकसित करता है अंतर में, विविध ज्ञान की ज्योति महान ॥
ध्यान-सूर्य से कट जाता है, ज्ञानावरणी तिमिर अपार ।
और इस तरह हो जाता है, अन्तर घनानन्द साकार ॥

'ण' णा का ण कहता है कि अनंत चतुष्टय धारी परमात्मा का ध्यान, अंतर में ज्ञान की महान ज्योति जगाता है। ध्यान सूर्य से ज्ञानावरणीय कर्मों का नाश हो जाता है और अंतरपटल ज्ञान के प्रकाश से पूर्ण हो जाता है।

तारंति सुद्ध भावं, तिक्तंति भाव सपल मिच्छतं।
अप्पा पर पिच्छन्तो, तरन्ति संसार सायरे घोरे ॥७४४॥

* * * * * *

तत्ता का 'त' यह कहता है, है शुद्धोपयोग ही सार।
करता है शुद्धोपयोग ही, तारकबन, जन को भव-पार ॥
तत्ता का 'त' यह कहता है, त्याग सकल मिथ्यात्व महान।
निज पर को जो परख जानता, तर जाता वह ज्ञान-निधान ॥

* * * * * *

त, ता का 'त' कहता है कि संसार में तारनेवाला पदार्थ केवल शुद्धोपयोग ही है। त ता का 'त' कहता है कि जो मनुष्य मिथ्यात्व को तिलांजलि देकर, निज पर की पहिचान कर लेता है, वह इस संसार सागर से निश्चय पार हो जाता है।

थानं च सुद्ध ज्ञानं, ति अर्थं पंच दीप्ति थानसुद्धं च।
मिथ्या कुज्ञान तिक्तं, ज्ञान सहावेन थान संसुद्धं ॥७४५॥

* * * * * *

थथ्था का 'थ' यह कहता है, शुद्ध ध्यान ही है वह 'थान'।
पंचदीप्ति त्रय रत्न जहां पर करते नित किल्लोल महान ॥
थथ्था का 'थ' यह कहता है, मिथ्या ज्ञान विदीर्ण करो।
शुद्ध ध्यान का सम्बल लेकर, मुक्ति-थलो में चरण धरो ॥

* * * * * *

थ, था का थ कहता है कि शुद्ध ध्यान ही वह 'थान' है, जहां पंचदीप्तियें नित्यप्रति किल्लोल किया करती हैं। थ, था का थ कहता है कि मिथ्याज्ञान को नाश कर उस 'थल' में प्रवेश करो, जो मुक्ति थली कहलाती है—सिद्धों का जहां निवास है।

दर्शन सुद्धि निमित्तं, भावं सुद्धं च निम्मलं सुद्धं ।
ज्ञानेन ज्ञान रूवं, जिन उत्तं ज्ञान निम्मलं सुद्धं ॥७४६॥

******

दद्दा का 'द' यह कहता है, 'दर्शन' है भावों का प्राण ।
जितना निर्मल दर्शन होगा, होंगे उतने भाव महान ॥
जितनी भाव विशुद्धि बढ़ेगी, होगा उतना निर्मल ज्ञान ।
वही ज्ञान, कैवल्य पोत बन, तुम्हें भेज देगा निर्वाण ॥

******

द, दा का द कहता है कि दर्शन ही भावों का प्राण है । जितना निर्मल दर्शन होगा, उतने ही निर्मल तुम्हारे भाव होंगे । और जितनी तुम्हारी भाव-विशुद्धि बढ़ेगी, उतनी ही विशुद्धि तुम्हारे ज्ञान में आ जायेगी । यही ज्ञान एक दिन केवल-ज्ञान बनकर तुम्हें अजर अमर पद प्राप्त करा देगा ।

*

धरयंति धम्म जुत्तं, मन पसरन्त ज्ञान सह धरनं ।
ज्ञाय सुद्ध सहावं, ज्ञान सहावेन निम्मलं चित्तं ॥७४७॥

******

धध्धा का 'ध' यह कहता है, धरम जतन से धरना रे ।
चंचल मन के बहकाने से, पतन न उसका करना रे ॥
ज्ञान ध्यान से बांधो भाई तुम अपने मन का यह चोर ।
और तभी तुम गह पाओगे, मुक्ति महल की रेशम डोर ॥

******

ध, धा का 'ध' कहता है कि धर्म रूपी मणि को जतन से धरना, मन चंचल है, उसके बहकावे में आकर उसका पतन मत कर देना । हे भाई ज्ञान-ध्यान की डोर से, अपने मन को बांधो और तभी तुम मुक्ति महल की सीढ़ियां पा सकोगे ।

न्यानमयं अप्पानं छिदंति दुट्ठ कम्म मिच्छत्तं ।
छिन्नं कषाय विषयं, अप्प सरुवं च निम्मलं भावं ॥७४८॥

मन्ना का 'न' यह कहता है, न्यानमयी आतम का ध्यान ।
अष्ट कर्म को क्षय बनाकर, कर देता है चूर्ण समान ॥
आतम मनन से विषय कषायें, छिन्न भिन्न हो जाती हैं ।
अन्तरपट पर फिर आतम की, हो छवियें दिखलाती हैं ॥

न, ना का 'न' कहता है कि न्यानमयी आत्मा का ध्यान, अष्ट कर्मों को क्षयकर चूर्ण बना देता है । आत्म मनन करने से विषय कषायें छिन्न भिन्न हो जाती हैं और फिर अंतर के पट पर आत्मा की निर्मल छवियें हो दिखती हैं ।

परमप्पय चिन्तवनं, अप्पा परमप्प निम्मलं सुद्धं ।
कुज्ञान सल्य विरयं, तिक्तं संसार सरनि मोहंधं ॥७४९॥

पप्पा का 'प' यह कहता है, परमातम के पद का ध्यान ।
कर देता है इस आतम को, शुद्ध बुद्ध परमात्म समान ॥
परमातम का मनन, शल्य का, कुज्ञानों का करता नाश ।
और एक दिन तोड़ बहाता, प्रबल मोह बैरी की पाश ॥

प, पा का 'प' कहता है कि परमात्मा पद का ध्यान आत्मा को शुद्ध बुद्ध परमात्मा ही बना देता है । परमात्मा का मनन, शल्यों और कुज्ञानों का नाश कर देता है और एक दिन मोह बैरी को सर्वथा क्षय कर देता है ।

फटिक सरुवं अप्पा, चेयनगुन सुद्ध निम्मलं भावं ।
कम्मल पयडि विरयं, संसार सरनि मोहन्धं ॥७५०॥

••••••

फफ्फा का 'फ' यह कहता है, यह आतम है फटिक समान ।
जगमग जग करते हैं इसको, चेतन से गुण शुद्ध महान ॥
कर्ममलों की सत्ता से भी, यह आतम है पूर्ण विहीन ।
करते हैं केवल इस ही का, चिंतन जो हैं भव्य प्रवीण ॥

••••••

फ, फा का 'फ' कहता है कि आत्मा स्फटिक मणि के तुल्य है, जिसमें चैतन्य अखण्ड नित्यप्रति ज्याजल्यमान बना रहता है। यह आत्मा कर्म मलों की सत्ता से भी पूर्ण विहीन है और इसलिये जो भव्य पुरुष इसका चिन्तवन करते हैं, वे पूर्ण विवेकवान और पंडित होते हैं।

✱

बर सुद्ध ज्ञान निश्वं, बंभं चरनं अबंभ तिक्त च ।
तिक्तं असुद्ध भावं, सुद्ध सहावं च भावना सुद्धं ॥७५१॥

••••••

बब्बा का 'ब' यह कहता है, जो धरता है निर्मल ध्यान ।
वह 'विभाव' परणतियें तजकर, ध्याता है बस ब्रह्म महान ॥
अशुभ भावनाओं को वह नर, पूर्ण रूप तज देता है ।
परम शुद्ध भावों में ही बस, वह पल पल रस लेता है ॥

••••••

ब, बा का 'ब' कहता है कि जो निर्मल ध्यान धरता है, वह विभाव परणतियें छोड़कर केवल ब्रह्म का ही सहारा लेता है। वह पुरुष अशुभ भावनाओं को छोड़कर, परमशुद्ध भावनाओं में ही नित्य निरन्तर लवलीन बना रहता है।

भद्रं मनोज्ञ सुद्धं भद्धं जाती च निम्मलं सुद्धं ।
संसार विगत रूवं, अप्प सहावं च निम्मलं ध्यानं ॥७५२॥

भभ्भा का 'भ' यह कहता है, यह आतम है भद्र ममल ।
बहते नित मनोज्ञ निर्मल गुण, इसमें शुचि जल से अविरल ॥
सांसारिक भावों से इसका, पूर्ण अछूता है प्याला ।
करो आतम के हो चिंतन से, अपने घट में उजियाला ॥

भ, भा का 'भ' कहता है कि यह आत्मा महान भद्र है । इसमें नित्यप्रति निर्मल गुणों की धार बहती रहती है । सांसारिक भाव इस आत्मा में भूलकर भी नहीं आते । हे भव्यों ! इससे तुम आत्मा के चिन्तवन से ही अपने आत्मा को प्रकाश में लाओ ।

मम-आतमा सुद्धानं, सुद्धप्पा ज्ञान दंसन समग्गं ।
रागादि दोष रहियं, ज्ञान सहावेन सुद्ध सद्भावं ॥७५३॥

मम्मा का 'म' यह कहता है, मैं हूँ निर्मल शुद्ध महान ।
मेरे घर में क्रीड़ा करते, ज्ञान और दर्शन भगवान ॥
रागद्वेष की मूल न पड़ती इस अंतर पट पर छाया ।
ज्ञानरूप में मग्न, सदा है ज्ञानमयी मेरी काया ॥

म, मा का 'म' कहता है कि 'मैं' निर्मल हूं, महान हूं और शुद्ध हूँ, मेरे घर में ज्ञान और दर्शन नित्यप्रति क्रीडा करते हैं । मुझ पर राग और द्वेष की छाया नहीं पड़ती और मैं निरन्तर ज्ञानरूप में तन्मय बना रहता हूं ।

जयकारं जिन उत्तं, जयवंतो सुद्ध निम्मलं भावं ।
मिच्छात राग मुक्तं, ज्ञान सहावेन निम्मलं चित्त ॥७५४॥

******

यय्या का य यह कहता है, 'जिनवाणी' की हो जयकार ।
हो जयवन्त जिनेश्वर प्रभु का, आतम तत्व निर्मल अविकार ॥
वह आतम, मिथ्यात्व मोह से, रहता है जो कोसों दूर ।
जिसमें लय हो, मन हो जाता, निजानंद के रस में चूर ॥

******

य, या का 'य' या 'ज' कहता है कि श्री 'जिनवाणी' सदा जयवंत हो और जयवन्त हो जिनेन्द्र प्रभु का यह आत्म तत्व, जो मिथ्या व मोह से दूर रहता है और जिसमें लय होकर मन निजानंद के रस में चूर हो जाता है ।

*

रयनत्तय संजुत्तं, अप्पा परमप्प निम्मलं सुद्धं ।
मयमान मिच्छ विरयं, संसारे तरंति निम्मलं भावं ॥७५५॥

******

रर्रा का र यह कहता है, यह आतम है वह प्याला ।
'रत्नत्रय' करते हैं जिसमें, जगमग-जग नित उजियाला ॥
इस मदमान-शून्य आतम का, धरते हैं जो नितप्रति ध्यान ।
तर जाते हैं वे भुजबल से, यह विशाल भव सिन्धु महान ॥

******

र, रा का र कहता है कि आत्म तत्व के प्याले में 'रत्नत्रय' की माधुरी निवास करती है । इस मद-मान से रहित आत्म तत्व का जो नित्य प्रति ध्यान करते हैं, वे अपनी भुजाओं के बल से यह विशाल संसार सागर अवश्यमेव पार कर जाते हैं ।

लंकृत ज्ञान सहावं, कुज्ञानं त्यजंति सयल मिच्छातं ।
परमानंद सरूवं, ज्ञानमयं परम भाव सिद्धी ए ॥७५६॥

******

लल्ला का ल यह कहता है, जो हैं ज्ञान--रत्न--'लंकृत' ।
वे जन सहज भाव तज देते, जग के सब मिथ्यात्व असत् ॥
परमानन्द मगन हो वे नित आतम ध्यान लगाते हैं ।
और इस तरह परम लक्ष्य में, अपने चरण बढ़ाते हैं ॥

******

ल, ला का ल कहता है कि जो ज्ञान-रत्न से अलंकृत हैं, वे संसार के सब मिथ्याभावों को तजकर परमानन्द में ही मगन रहते हैं और इस तरह मुक्ति पंथ की ओर उनके चरण नित्य प्रति ही बढ़ा करते हैं ।

■

वारापार महार्णव, तरंति जे, ज्ञान, ध्यान संजुत्तं ।
भावंति सुद्ध भावं, ज्ञान सहावेन संजमं सुद्धं ॥७५७॥

******

वव्वा का 'व' यह कहता है यह जग है इक 'वारापार, ।
तरते हैं इसको बस वे ही, जिन पर रहती है पतवार ॥
ज्ञान ध्यान संयम से निर्मित, होती यह पतवार अमोल ।
खेते इसे खिवैया पल पल, करते आतम में किल्लोल ॥

******

व, वा का व कहता है कि यह जग एक पारावार समुद्र है और इसको वही पार कर सकते हैं जिनके पास ज्ञान ध्यान और संयम की पतवार होती है । जिनके पास यह पतवार होती है, वे पल पल आत्मा का ध्यान करते हुए, अपनी नाव खेते रहते हैं ।

सहकारे जिन उत्तं, स्रुतं संसार तारने नित्यं ।
संसार सरनि विरयं, ज्ञान सहावेन भावना सुद्धं ॥७५८॥

शश्शा का श यह कहता है, इस जग में केवल 'श्रुत'ज्ञान ।
यह संसार पार करने में, देता है सहकार महान ॥
वह श्रुतज्ञान सिखाता हमको, रे इस भव से मुख मोड़ो ।
आत्मज्ञान की तरणी पर चढ़, शिवपुर से नाता जोड़ो ॥

श, शा का 'श' कहता है कि श्रुतज्ञान ही, संसार सागर को पार करने में महान सहायता देता है श्रुतज्ञान हमें सीख देता है कि इस संसार से मुख मोड़ कर आत्मज्ञान की तरणी पर चढ़ो और मुक्तिपंथ की ओर अपने चरण बढ़ाओ ।

षिपिनिक भाव निमित्तं, षिपिओ संसार सरनि मोहंधं ।
षय उवसम संजुत्तं, अप्पा परमप्प निम्मलं सुद्धं ॥७५९॥

षष्षा का ष यक कहता है 'षायिक मुक्ति' प्राप्ति के हेतु ।
दर्शन मोह कषायें क्षय कर, संत सुखा देते भव-सेतु ॥
उपशम या कि क्षपक श्रेणी पर, वे साधक चढ़ जाते हैं ॥
आत्म तरणि पर चढ़कर वे यों, परम सिद्ध पद पाते हैं ॥

ष, षा का ष कहता है कि 'षायिक' (क्षायिक) मुक्ति को प्राप्त करने के लिए, दर्शनमोह कषायें आदि का नाश कर, संत संसार-समुद्र को सुखा देते हैं । वे उपशम या क्षपक श्रेणी पर चढ़कर, आत्मध्यान करते हुए सिद्ध पद प्राप्त कर लेते हैं ।

सहकार धम्म धरनं, सहजोपनीत सहज नन्द आनन्दं ।
संसार विगत रूवं, अप्पा परमप्प सुद्ध मप्पानं ॥७६०॥

••••••

सस्सा का स कहता है यह, जो है मुक्ति मार्ग अविकार ।
सहजानंद स्वभाव मात्र ही, है बस उस पथ में सहकार ॥
सहजानंद स्वभाव आत्म के, संवेदन का है वह स्वाद ।
जग से दूर जहाँ अनहद का, बस केवल सुन पड़ता नाद ॥

••••••

स, सा का 'स' कहता है कि जो मुक्ति मार्ग है, उसमें केवल सहजानन्द स्वभाव ही सहकारी होता है। सहजानन्द स्वभाव, आत्म-स्वसंवेदन का वह मधुरतम स्वाद है, जिसमें विषय कषाय रागद्वेषों से रहित, केवल अनहदनाद ही सुनाई पड़ता है।

✸

ह्रींकारं अरहंतं, तेरह गुन ठान संजदो सुद्धं ।
चौतीस अतिसय जुत्तो, केवल भावे मुने अन्वो ॥७६१॥

••••••

हह्हा का ह यह कहता है, 'ह्रीं' मंत्र है, वह अविकार ।
वीतराग अरहन्त प्रभो को, कर देता है जो साकार ॥
ऐसे वे अरहन्त कि होते, तेरह गुणस्थान के धाम ।
केवल ज्ञान और अतिशय नित, भरते जिनमें ज्योति ललाम ॥

••••••

ह, हा का 'ह' कहता है कि ह्रीं मंत्र ही वह अविकार पद है जो वीतराग, अरहन्त प्रभो को पूर्ण रूपेण साकार करता है। ऐसे वे अरहन्त प्रभो तेरह गुणस्थान के धारी होते हैं, जिनमें नित्यप्रति केवल ज्ञान और अतिशयों की ज्योति जगमग हुआ करती है।

षिपतं कम्म सभावं, षिपियं संसार सरनि सद्‌भावं ।
अप्पा परमानंदं, परमप्पा मुक्ति संजुत्त ॥७६२॥

++++++

सार रूप उपदेश यही है, कर्मों का तुम करो विनाश ।
नाश करो उस भ्रामक भव का, जो देता है भव भव त्रास ॥
सहजानंद स्वभाव इष्ट है, करो उसी में नित्य विहार ।
इष्ट पंथ पर चलकर पाओ, परम इष्ट, ध्रुव पद अविकार ॥

++++++

सार यही है कि कर्मों का विनाशकर, उस संसार का नाश करो जो भव भव त्रास देता रहता है । इस संसार में इष्ट पदार्थ केवल सहजानन्द स्वभाव है, उसी में तुम विहार करो और इष्ट पद पर चलकर अभीष्ट पद की प्राप्ति करो ।

✱

अक्षर स्वर विजन रूवं, पदविंद सुद्ध केवलं ज्ञानं ।
ज्ञानं ज्ञान सरूवं, अप्पानं लहंति निव्वानं ॥७६३॥

++++++

अक्षर से, स्वर से, व्यंजन से, करो उसी पद का तुम ध्यान ।
जिस पद में निवास करता है, परमशुद्ध ध्रुव केवल ज्ञान ॥
ज्ञान रूप हो परमज्ञान, को जब तुम ज्योति जलाओगे ।
यह ध्रुव है यह अटल सत्य है, शाश्वत पद पा जाओगे ॥

++++++

अक्षर से, स्वर या व्यंजन से, तुम उसी पद का ध्यान करो, जिसमें परम शुद्ध केवल ज्ञान निवास करता है । ज्ञानरूप होकर जब तुम ज्ञान का आराधन करोगे, तो यह अटल सत्य है कि तुम्हें शाश्वत पद की प्राप्ति हो जावेगी ।

तत्वं तत्त्‌ सहावं, जीवाजीवं च तत्त्‌ जाने हि ।
आस्रव बंध निरोधं, संवर निज्जर विमल न्यानस्य ॥७६४॥

⁂

मोक्ष मार्ग में जो कि प्रयोजन, भूत वस्तु बन रहते हैं ।
उन्हीं वस्तु के जो स्वभाव हैं, तत्व उन्हीं को कहते हैं ॥
जोव अजोव प्रधान तत्व हैं, शेष पंच जो तत्व सुजान ।
वे हैं आश्रव, बंध कि संवर, और निर्जरा मोक्ष महान ॥

⁂

जो मोक्षमार्ग में प्रयोजन भूत वस्तु हैं, उनके स्वभाव को ही तत्व कहते हैं । जीव और अजीव दो प्रधान तत्व हैं, शेष पांच तत्व हैं (१) आश्रव (२) बंध (३) संवर (४) निर्जरा (५) मोक्ष ।

✱

मोक्षं षिपति ति कम्मं, तत्वं जाने हिसलय विन्नानं ।
पदार्थं पदविदं, जीवा जोवस्य विंद विन्नानं ॥७६५॥

⁂

आता है जिस द्वार कर्मदल, वह आश्रव कहलाता है ।
कर्म बंध, बस बंध, रोक ही संवर जाना जाता है ॥
कर्मो का क्षय हो जाना ही तत्व निर्जरा है भाई ।
द्रव्य, भाव, जो कर्मनाश ही, मोक्ष तत्व है सुखदाई ॥

⁂

जिस द्वार से कर्म आयें, वह आश्रव, कर्मों के बंधों को जो रोके वह संवर, कर्मो के क्षय होने को निर्जरा और द्रव्य, भाव और जो कर्मों के नाश को ही मोक्ष तत्व कहते हैं ।

पुन्य पाप आस्रवनं, बंधं संवर ति ज्ञान सहकारं ।
निज्जर मोक्ष सुभावं, पदार्थं ज्ञान सहाव निम्मलयं ॥७६६॥

✦✦✦✦✦✦

भिन्न, विभिन्न पदों के द्वारा जो कि वस्तु का देवें ज्ञान ।
जिनशासन में कहलाते हैं वही पदार्थ, सुनो मतिमान ॥
जीव, अजीव पदार्थ मुख्य दो, पुण्य, पाप, आस्रव औ बंध ।
संवर और, निर्जरा, अंतिम मोक्ष पदारथ है निर्बन्ध ॥

✦✦✦✦✦✦

भिन्न भिन्न पदों के द्वारा जो वस्तु का यथार्थ ज्ञान करावें उन्हें पदार्थ हैं । जीव अजीव ये दो प्रधान पदार्थ हैं । शेष ७ पदार्थ हैं—(१) पुण्य (२) पाप (३) आस्रव (४) बंध (५) संवर (६) निर्जरा और (७) मोक्ष ।

✦

दव्वं दव्व सरूवं, जीव दव्व अजीव दव्व विज्ञानं ।
धम्मं अहम्मं जाने, आकासं काल दव्व दव्वार्थं ॥७६७॥

✦✦✦✦✦✦

जिनसे लोकाकाश भरा है, जो सर्वत्र दिखाते हैं ।
द्रव्य रूप जो करें परिणमन, द्रव्य वही कहलाते हैं ॥
जीव अजीव सर्व द्रव्यों में, कहलाते हैं सर्व प्रधान ।
धर्म, अधर्माकाश, काल ये होते शेष द्रव्य मतिमान ॥

✦✦✦✦✦✦

जिनसे लोकाकाश भरा हुआ है और जो द्रव्य रूप परिणमन करते हैं, वह द्रव्य कहलाते हैं जीव और अजीव ये दो प्रधान द्रव्य हैं । शेष ४ द्रव्य हैं—(१) धर्म (२) अधर्म (३) आकाश (४) काल ।

काया जीवास्ति सुद्धं, अजीवास्ति अतोन्द्रियं च सभावं ।
धम्मास्ति धम्म चेयनयं, अहम्मास्ति सयलकालठिदिकरनं ॥७६८॥
अवकास्ति दान अवयामं, कालं कायन संजदो हुँती !
पंचास्तिकाय कहियं, सुद्ध सहावेन ममल उववन्नं ॥७६९॥

++++++

जो है पूर्ण इन्द्रियागोचर, निराकार है जिसका रूप ।
चेतनता से जो मंडित है, जीवकाय है वही अनूप ॥
जो पुद्गल है प्राण न जिसमें, वह अजीव कायाधारी ।
है धर्मास्तिकाय बस वह ही, जो कि गमन में सहकारी ॥
सर्वकाल हों द्रव्य जहां थिर, वहीं अधर्मकाय का वास ।
दे अवकाश सर्वद्रव्यों को, वही अस्तिकाया आकाश ॥
काल द्रव्य को काय न, इससे अस्तिकाय वह नहीं सुजान ।
अस्तिकाय करते रहते सब, नित्य परिणमन शुद्ध महान ॥

++++++

जो इन्द्रियों द्वारा देखा नहीं जा सकता तथा चेतनता से जो मंडित है, वही जीवकाय है । जो पुद्गल है, चेतनता से रहित है, वही अजीव है । गमन में जो सहकारी है, वह धर्म है, जहां सर्वकाल द्रव्य स्थिर हों, वह अधर्म और जो सर्वद्रव्यों को जगह दे वह आकाश कहलाता है । कालद्रव्य की काया नहीं होती इससे वह अस्तिकाय नहीं कहलाता । जो अस्तिकाय होते हैं, वे नित्य परिणमन करते रहते हैं ।

✱

तत्तुपय दव्व कहियं, काया स सरूव उवएसनं सुद्धं ।
गुन रूव भेय विन्नानं, एको उछेस न्नान सहकारं ॥७७०॥

++++++

इस प्रकार जो सप्त तत्व औ नौ पदार्थ बतलाये हैं ।
षट द्रव्यों के पंच अस्ति के, जो भी गान सुनाये हैं ॥
वे सब बस इसलिये कि जगता है जो अंतिम केवलज्ञान ।
होता है सहकारी उसमें, इन सबका शुचि ज्ञान महान ॥

++++++

इस प्रकार सप्त तत्व, नौ पदार्थ, षटद्रव्य और पंचास्तिकाय के जो रूप बताये हैं, वह केवल इसलिये कि ये सब केवलज्ञान के जगने में सहकारी होते हैं ।

जीओ जीर्वपि जीवं, जीवन्तो ज्ञान दंसन समग्गं ।
बीजं सुद्ध सु चरनं, ज्ञानमयोपिऽनन्त सुहनिलयं ॥७७१॥

जो जीता था, जीता है जो, और जियेगा जो चिरकाल ।
कहलाता है वही जीव बस, रूपातीत, अनन्त विशाल ॥
रत्नत्रय से पूरित होता है, इसका भंडार अनूप ।
होता सुख का गेह जहां यह, वहीं ज्ञान का होता भूप ॥

जो जीता था, जीता है और सदा जीता रहेगा, वही जीव कहलाता है । जीव रत्नत्रय से पूर्ण रहता है और जहां इसका अस्तित्व रहता है, वहीं ज्ञान का प्रकाश होता है ।

जीवो उड्ढगमओ जीव सहाओ सुनिम्मलो सुहमो ।
अतिद्री ज्ञान सहाओ, चौ दस प्राण अतोन्द्रिया सुहमो ॥७७२॥

ऊर्ध्व गमन है जीव तत्व का, चिरकालीन स्वभाव महान ।
निर्मल और सूक्ष्म तत्वों से, सने हुए हैं उसके प्राण ॥
कहलाता वह चार और दश प्राणों का यद्यपि आगार ।
निराकार होता है लेकिन, निश्चय से उसका संसार ॥

जीव का ऊर्ध्वगमन स्वभाव होता है । वह यद्यपि चार और दस प्राणों का धारी होता है, लेकिन निश्चय से वह निराकार ही होता है ।

जीओ जयं च रूवं, जाता उत्पन्न ज्ञान ससहावो ।
आदि अनादि असंख्यं, उववन्नं ज्ञान दंसन समग्गं ॥७७३॥

******

सदा काल से जीव कर्म पर, जय पाता आया भारी ।
जन्म जात है यह अनन्ततम ज्ञान और दर्शनधारी ॥
आदि अनादि, असंख्य, अमिट है, है वह अशरीरी अविकार ।
भव भव लेता जन्म, किन्तु है समकित का यह पारावार ॥

******

यह जीव सनातन काल से कर्मों पर विजयी होता आया है, ज्ञान और दर्शन उसके जन्मजात अधिकार हैं, यह आदि है, अशरीरी है, अविकार है । यद्यपि संसार में यह बार बार जन्म लेता है, किन्तु निश्चयनय से यह सम्यक्त्व का अपूर्व भंडार होता है ।

*

नादु न बिंदु नकारं, नहि उप्पत्ति षिपति धुव सुद्धं ।
सुद्धं सुद्ध सरूवं, सुद्धं तियलोय मत्त निम्मलयं ॥७७४॥

******

न तो जीव में नाद कि कोई, नहीं कि उसमें कहीं निशान ।
हलचल कहीं न कोई उसमें, हो जिससे उसकी पहिचान ॥
वह उत्पत्ति और व्यय से भी परे कि वह है अविनाशी ।
सर्व कर्म से रहित शुद्ध वह, निश्चय से त्रिभुवनवासी ॥

******

न तो जीव में कोई ध्वनि है, न उसमें कहीं कोई चिन्ह है और न उसमें ऐसो कोई स्पन्दन ही है कि जिससे उसकी पहिचान हो सके । उत्पत्ति और व्यय से भी वह पूर्ण परे है । सर्व कर्मों से वह रहित है और त्रिभुवन का निवासी है ।

जीओ रूव विमुक्को, विगतं रूवं च चेयना अमलं ।
लोयं लोयपमानं, नंत सरूवं च विमल ज्ञानस्य ॥७७५॥

परसन, रसना, गंध, वर्ण से, निश्चय है यह जीव अतीत ।
लेकिन पर्यार्थिक से यह, लोकाकाश प्रमाण पुनीत ॥
होता है यह निर्विवादतम, शुद्ध चेतना का आगार ।
त्रिभुवन का जो युगपत द्रष्टा, उस केवल का पारावार ॥

स्पर्श, रसना, गंध और वर्ण से यद्यपि यह जीव परे है, लेकिन पर्यायार्थिक नय की दृष्टि से यह लोका-काश के आकार का धारी है । यह शुद्ध चेतना का आगार और केवल ज्ञान का धारी है ।

मन सुभाव उववन्नं, तत्वं पंचंमि परिनाम संजुत्तं ।
षिदि जल मरु च पवनं, आकासं सुक्र श्रोनि मूर्छनयं ॥७७६॥

जो अजीव हैं, उनमें मन है मनोवर्गणा का संसार ।
अनिल, अनल, जल, गगन रसा का यह औदारिकतन आगार ॥
पंच तत्व औ शुक्र-वीर्य से, इस तन का है बना मकान ।
इससे अपना यह शरीर भी, है अजीव, पुद्गल, मलिमान ॥

जहाँ तक हमारे मन व शरीर का सम्बन्ध है, यह मन अजीव है, मनोवर्गणा से उत्पन्न हुआ है । शरीर, पृथ्वी, जल, अग्नि, हवा और आकाश इन पाँच तत्वों के परिणमन से उत्पन्न यह पिता के वीर्य तथा माता के रज के संयोग से जन्मा है अतएव पुद्गल है, अजीव है ।

मन लेस्सा उत्पन्नं, इन्द्री बुध प्रान सुह असुहं ।
पुग्गल सहाव उवनं, कम्म निबंध जीव संचरनं ॥७७७॥

कृष्ण, नील से अशुभ, पीत से और पद्म से जो शुभ योग ।
ये ही मन के योग कराते, इन्द्रिय प्राणों का उपयोग ॥
इस पुद्गल के ही स्वभाव से, होते हैं सब कर्म सृजन ।
जिनमें बंधा जीव करता है, भव भव का पल विपल भ्रमण ॥

मन के संकल्प विकल्पों से तथा कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म आदि लेश्याओं से, शुभ अशुभ ज्ञानोपयोग तथा पाँच इन्द्रिय रूपी प्राणों का कार्य उत्पन्न होता है । इस पुद्गल के स्वभाव से ही सब कर्मों का सृजन होता है, जिनके बंधन में फंसकर, जीव संसार का चक्कर लगाया करता है ।

सहकारेन संजुत्तं, रचियं पुग्गल सहाय संजुत्तं ।
सरीरं अवभासं, परिनै सहाव वृद्धि संपुष्टं ॥७७८॥

जीव और कर्मोदय दोनों, करते हैं जिनका निर्माण ।
वह होता है अपना शरीर जो, करता नित प्रकाश अम्लान ॥
पुद्गल का परिणमन कि इसमें, नित परिवर्तन करता है ।
कभी युवा यह, कभी वृद्ध फिर, कभी जनमता, मरता है ॥

जीव और कर्मों के उदय से जिसका निर्माण होता है, ऐसा यह अपना शरीर है । पुद्गल के परिणमन इसमें नित नया परिवर्तन करते रहते हैं, जिसके परिणामस्वरूप, यह कभी युवा होता है, कभी वृद्ध होता है, कभी जन्म लेता है और कभी मरण को प्राप्त होता है ।

कम्म उवनं भावं, इन्द्री मन विषय बुद्धि सद्भावं ।
अप्प सहाव न सुद्धं, कम्म निबन्धो य जीव तं भनियं ॥७७९॥

******

होती हैं जितनी इच्छायें, या मन के जितने भी भाव ।
कर्मोदय का ही होता है, एक मात्र उनमें सद्भाव ॥
आत्मजनित ये भाव न होते, ये विभाव कहलाते हैं ।
इनमें बंधे हुए मानव नित, भव भव ठोकर खाते हैं ॥

******

जितनी इच्छायें या मन के जितने भी भाव होते हैं, वे सब कर्मजनित ही हुआ करते हैं। इनका आत्मा से कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता—ये विभाव होते हैं, जिनमें बंधकर संसारी प्राणी भव भव ठोकर खाया करता है।

*

जीव सहाव अजीवं, कम्म निबन्धोय सक्ति रूवेन ।
गुनदोसं मइओन जं मन मुचनं च कम्म बन्धानं ॥७८०॥

******

पुद्गल की संगति कर नित प्रति, पुद्गल से कर प्रीति अपार ।
पुद्गल सा हो रहा जीव यह, गुण दोषों का पारावार ॥
कर्मों के बंधन से इसको, जब तक मिले न छुटकारा ।
तब तक भ्रमण करेगा यह नित, ज्ञान गुणों से हो न्यारा ॥

******

यह जीव पुद्गल की संगति करके, पुद्गल सा ही दोषों का भंडार बनता रहता है जब तक इसको कर्मों से छुटकारा नहीं मिलता, तब तक यह संसार में भ्रमण करता ही रहेगा।

अचेतं असुहावं, असत्यं असास्वतं विजानेहि ।
अजीव तच्‍च भनियं, पुग्गल भावेन सरनि संसारे ॥७८१॥

जो अचेत हैं, ज्ञानशून्य है, और क्षणिक दिखलाता है ।
जिन शासन में वही तत्व बस, पुद्गल तत्व कहाता है ॥
इन्हीं रागद्वेषादिक पुद्गल भावों का लेकर बंधन ।
यह मानव करता रहता है नित प्रति भव भव में क्रन्दन ॥

जो अचेत है, ज्ञान शून्य है तथा जिसका क्षणिक जीवन है, वही पुद्गल कहलाता है । इन्हीं विकारी रागद्वेष आदिक पुद्गलों के बंधन में बंधकर, यह संसारी प्राणी भव भव में भ्रमण किया करता है ।

इन्द्री सरीर सुभावं, अतिंद्री ज्ञान जीव सहकारं ।
गुन दोसं नवि विजानइ, अजीव तत्वं च मनंपि सहकारं ॥७८२॥

पांचों इंद्रिय और कि यह मन, मिलकर इस शरीर के साथ ।
बेचा करते सरल जीव को, नित प्रति ही कर्मों के हाथ ॥
इससे समझो, पढ़ो गुनो तुम, जितनी हैं विषयों की चाह ।
वे पुद्गल हैं, वे अजीव हैं, करती हैं प्रशस्त भवराह ॥

पाँचों इंद्रिय और मन, इस शरीर के साथ मिलकर इस जीव को कर्मों के हाथ बेचा करते हैं । इससे यह समझना चाहिये कि जितनी भी विषयों की अभिलाषाएँ हैं, वे सब पुद्गल हैं और संसार की खाई को गहरी बनाती हैं ।

जीव अजीवं एकं, कम्म निबन्धाइ सरनि संसारे ।
पुन्यं पाव उत्पन्नं, मन सहकारं आस्रवे कम्मं ॥७८३॥

नहीं आज से, पर अनादि से, जीव अजीव हो रहे एक ।
और इसीसे जीव, बांधता आया है नित कर्म अनेक ॥
पुद्गलमय हो पुण्य पाप का, वह नित आश्रव करता है ।
कलुषित भाव बनाकर यों वह, कर्मों से घर भरता है ॥

आदि अनादि से जीव और पुद्गल का संयोग होता आया है और इसी से अनेकानेक कर्म इस जीव के साथ बंधते आये हैं। यह पुद्गल के संयोग से रात दिन कर्मों का आश्रव करता रहता है और अपने भाव कलुषित बनाकर पाप का बोझ भारी किया करता है।

देव गुरुं नवि जाने, नहु धम्मं च शुद्ध चेयना सुद्धं ।
कुगुरुं कुदेव दिट्ठं, कुधम्मं विकहा राग सम्बन्धं ॥७८४॥

पुद्गल की संगति में पड़कर, होकर पुद्गलमय अज्ञान ।
नहीं जीव को रहने पाती, सत्य झूठ की भी पहिचान ॥
खोटे देव, धर्म, गुरु, को वह सत्यमान अपनाता है ।
विकथा में फंस रागद्वेष के, नित नव जाल बनाता है ॥

पुद्गल की संगति में रहने से इस जीव को खोटे खरे की भी पहिचान नहीं रहती है। वह खोटे देव, खोटे गुरु और खोटे शास्त्र की आराधनायें करता है और विकथाओं के चक्कर में फंसकर नित नये संसार के जाल में फंसता रहता है।

अनृत अचेतं सहियं, मिथ्या कुज्ञान असंजदो भावं ।
परिनै असुह सुहावं, मनः सहायेन सयल संजुत्तं ॥७८५॥

******

अनृत अचेतों की संगत में, पड़कर के यह जीव महान ।
नित्य कमाता मिथ्याचारित, मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान ।
पुद्गल का सहवास कि उसके, खोटे भाव बनाता है ।
खोटे भावों के द्वारा वह, कर्मों से लद जाता है ॥

******

अनृत, अचेत पुद्गलों की संगति में पड़कर यह जीव मिथ्यात्व की कमाई किया करता है । पुद्गल के सहवास में रहने के कारण, उसके खोटे भाव बनते रहते हैं, जिससे उसके ऊपर नित नया कर्मों का भार बढ़ता रहता है ।

*

जीवो कम्म निबद्धं, आश्रवे कम्म विविह भावेन ।
आश्रव तत्तु समिद्धं, मन सहकारेन आश्रवो भनियं ॥७८६॥

******

पूर्व कर्म से बंधे हुए जो, जीव जगत में फिरते हैं ।
वे कि अशुभ भावों के द्वारा, कर्म आश्रव करते हैं ॥
कहते हैं इस ही को आश्रव, परमपूज्य जिनवर भगवान ।
मन से होता भाव, भाव से होता है आश्रव मतिमान ॥

******

पूर्वोपार्जित कर्मों से बंधे हुए जो जीव संसार में फिरते हैं वे अशुभ कर्मों के द्वारा, यहां भी पापों का ही आश्रव करते रहते हैं । इसी को कर्मों का आना कहते हैं । जैसा मन होता है । वैसे ही भाव होते हैं और जैसे भाव होते हैं, वैसा ही कर्मों का आश्रव होता है ।

जीवो अप्प सहावं, मन सुद्धं सुद्ध दिष्टि अप्पानं ।
मन चेयन सद्‌भावं, बन्धं आस्रव सुहं च असुहं च ॥७८७॥

जीव तत्व का मूलभूततम, जो स्वभाव है भाई !
वह स्वभाव है शुद्ध परिणमन, शुद्ध परिणमन सुखदाई ॥
शुद्ध आत्मा में हो उसकी, रहती है नित पावन दृष्टि ।
किन्तु जहां संयुक्त हुआ मन, हो जाती बंधन की सृष्टि ॥

जीव तत्व का मूलभूत जो स्वभाव है, वह है शुद्ध परिणमन ! शुद्ध आत्मा की ओर ही उसकी पवित्र दृष्टि रहती है, किन्तु जहां उसका मन से संयोग हुआ वह बंधन की सृष्टि का प्रारंभ कर देता है ।

देव गुरु धम्मं सुद्धं, अप्प सरूवं च निम्मलं विमलं ।
मिथ्या कुज्ञान विरयं, बंधतत्वं च चेयना भावं ॥७८८॥

जहां देव, गुरु, धर्म सकल है, एक शुद्ध चैतन्य महान ।
जहां नहीं मिथ्यादर्शन है, जहां नहीं है मिथ्याज्ञान ॥
यत्र तत्र सर्वत्र जहां पर, आतम नाद सुनाता है ।
बंध तत्व उस जगह कभी भी, भूल न जाने पाता है ॥

जहां देव, गुरु, शास्त्र केवल आत्मा में ही प्रतिबिम्बित होते हैं; मिथ्यादर्शन और मिथ्याज्ञान की जहां परछाई भी नहीं दिखती तथा जहाँ सर्वत्र आत्मा और परमात्मा का नाद सुनाई देता है, वहाँ बन्ध तत्व भूलकर भी नहीं जाने पाता ।

चिंतइ अप्प सहावं, दंसन ज्ञानेन सुद्ध चरनानं ।
अप्पा परमप्पानं, संवर तत्वं च सुद्ध जाने हि ॥७८९॥

जहाँ आत्मा के स्वभाव का, होता अनुभव नित्य पवित्र ।
जहां शुद्ध सम्यग्दर्शन है, शुद्ध ज्ञान है, शुद्ध चरित्र ॥
जहां आत्मा परमातम में, भेद न माना जाता है ।
जिनवाणी कहती है संवर, तत्व वहीं दिखलाता है ॥

जहाँ आत्मा की नित्य प्रति पवित्र चर्चा सुनाई देती है, जहाँ दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र है तथा जहां जो आत्मा है वही परमात्मा है, वहीं संवर तत्व का सद्भाव रहता है ।

पंच इन्द्री संवरनं, अतिंद्री भाव सुद्ध परिनानं ।
मिथ्या रागनिरोधं, अप्पा ज्ञान दंसन समग्गं ॥७९०॥

पंचेन्द्रिय की चाह रोकना, करना मिथ्याराग निरोध ।
और आत्म को इस आतम के, ज्ञान गुणों का करना बोध ॥
यही अतीन्द्रिय भावों में बस, शुद्ध परिणमन है भाई !
और इन्हीं परिणामों में बस, बसता संवर सुखदाई ॥

पंचेन्द्रिय की इच्छाओं का दमन, करना, मिथ्या रागों का निरोध करना तथा आत्मा को आत्मा के ज्ञान गुणों का बोध कराना, बस यही अतीन्द्रिय भावों में परिणमन करना और इन्हीं भावों में संवर तत्व की सृष्टि निवास करती है ।

निज्जरइ भाव सुद्धं, सुद्धप्पा ज्ञानदंसन समग्गं ।
अप्पा परमप्पानं, सुद्ध सहकारेन केवलं ज्ञानं ॥७९१॥

ज्ञान और दर्शन से पूरित, है अपना यह आतमराम ।
है परमातम और न कोई परमातम आतम अभिराम ॥
एक इसी शुद्धोपयोग से, जग जाता है केवलज्ञान ।
और इसी शुद्धोपयोग से होती है निर्जरा महान ॥

हमारा आत्मा ज्ञान और दर्शन से पूरित है; इस आत्मा को छोड़कर, परमात्मा कोई दूसरा नहीं । बस इसी प्रकार की भावना से केवलज्ञान जग जाता है, और यही भावनाएं निर्जरा की एकमात्र कारण होती हैं ।

मोक्षं भुक्ति सुभावं, संसारे सरनि सयल तिक्तं च ।
अप्पा अप्प सहावं, मोक्षं विमल ज्ञान ज्ञानत्थं ॥७९२॥

किसी भांति का जहां न पर का, कोलाहल सुन पड़ता है ।
भवभ्रामक भावों का पग में, जहाँ न कंटक गड़ता है ॥
निज स्वभाव को प्राप्त जहां पर, हो जाता है आतमराम ।
शुद्ध ध्यान की सृष्टि जहां है, मोक्ष तत्व है वहीं ललाम ॥

जहां पर 'निज' को छोड़कर 'पर' का कोलाहल नहीं सुन पड़ता, संसार में भ्रमण कराने वाली चर्चाएं जहां कान में विष नहीं उंडेलतीं तथा जहां पर आत्मा परमात्मा में मगन हो जाती है, बस वही मोक्षतत्व है, यही समझना चाहिये ।

तत्वस्य भाव निरुपं, एको तद्देस किंचितं कहियं ।
ज्ञानं ज्ञानसरूवं, तत्वसरूवं च दंसनं ममलं ॥७९३॥

सप्त तत्व का दिया गया है, जो उपदेश यहां अविकार ।
वह है एकोदेश कथन बस, वह है सप्त तत्व का सार ॥
विस्तृत सार चाहते हो तो, जो है अपना आतमराम ।
वही सार है सप्त तत्व का, वही एक दर्शन अभिराम ॥

यहाँ पर सप्त तत्व का जो उपदेश दिया गया है, वह एकोदेश कथन है । यदि कथन का सार चाहते हो तो यह कि यह आत्मा ही सप्त तत्वों का सार है और यही मोक्ष का द्वार सम्यग्दर्शन है ।

पदार्थ पद विंदि, जीव पदार्थ पद विंद संजुत्तं ।
ॐ विंद संजुत्तं, ज्ञानमयं च दंसनं चरनं ॥७९४॥

पद के द्वारा जो कि वस्तु का, नित्य यथार्थ कराये ज्ञान ।
वही पदार्थ कहलाता है बस, कहते वीतराग भगवान ॥
ओम नमः पद शुद्ध जीव का शास्वत बोध कराता है ।
जीव कि जिससे रत्नत्रयमय, है यह जाना जाता है ॥

जो पद के द्वारा वस्तु के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान कराये, बस यही पदार्थ है । "ओम् नमः" यह पद जीव का यथार्थ ज्ञान कराता है, उस जीव का जो कि रत्नत्रय से मंडित रहता है ।

अक्षर सुर विंजनयं, पदार्थ सुद्ध ज्ञान निम्मलयं ।
अप्पा परमप्पानं, नंत चतुस्टय सरूव निम्मलयं ॥७९५॥

✦✦✦✦✦

अक्षर स्वर व्यंजन के द्वारा होता है पद का निर्माण ।
पद से जो भी अर्थ निकलता, होता वही पदार्थ महान ॥
जीव शब्द से उस आतम का, परमातम का होता ज्ञान ।
जो है नंत चतुष्टय धारी, अगम ज्ञान का विशद निधान ॥

✦✦✦✦✦

अक्षर, स्वर और व्यंजनों के द्वारा पद का निर्माण होता है। उस पद से जो अर्थ निकलता है, वही पदार्थ कहलाता है। जीव शब्द से उस आत्मा का बोध होता है, जो अनंत चतुष्टयधारी, अगमज्ञान का धारी परमात्मा होता है।

✱

ज्ञान सरूव सुभावं, अप्पा विमल निम्मलं सुद्ध ।
ज्ञानं ज्ञान सहावं, ज्ञान सहावेन पदार्थ सुद्धं ॥७९६॥

✦✦✦✦✦

जीव पदारथ ज्ञानस्वरूपी, ज्ञानस्वभावी है भाई ।
कर्ममलों से रागद्वेष से, यह विशुद्ध है सुखदाई ॥
यह है ज्ञानाकार, ज्ञान के पथ में है यह सहकारी ।
शुद्ध ज्ञान में थिर इससे ही, होता जीव नामधारी ॥

✦✦✦✦✦

जीव पदार्थ ज्ञानस्वरूपी है, ज्ञानस्वभावी है। यह सकल कर्ममलों से रहित, ज्ञानाकार होता है और ज्ञान के पथ में सहकारी होने से, ज्ञान दशा में थिर होता है।

अजीवं अचेतं, इन्द्री विषय राग दोष संजुत्तं ।
मन सुद्ध ज्ञान सहावं, अतिन्द्री विषय पदार्थं शुद्धं ॥७९७॥

✦✦✦✦✦✦

वह अजीव है जो अचेत है, या चेतन से है जो हीन ;
राग, द्वेष, मद, मोह सभी हैं, जिसकी संतति घृणित, मलीन ॥
है जो ज्ञानाकार, ज्ञान से हो जो जाना जाता है ।
वही एक इस जगतीतल पर, जीव पदार्थ कहाता है ॥

✦✦✦✦✦✦

राग, द्वेष, मद, मोह आदि से जो लिप्त हैं, वे सभी अजीव हैं । जो ज्ञानाकार है तथा ज्ञान से ही जिसका ज्ञान होता है, बस वही जीवतत्व कहलाता है ।

✷

आस्रवे पुन्य पावं, भावं असुहं च विविह कम्मानं ।
चेयन शुद्ध स उत्तं, पदार्थं तंपि पुन्य पावं च ७९८॥

✦✦✦✦✦✦

यह मन अशुभ भावनाओं में, जब भ्रमता, जब फिरता है ।
तब वह पुण्य पाप दोनों का ही कर्माश्रव करता है ॥
यद्यपि चेतन निश्चयनय से, पूर्ण विशुद्ध कहाता है ।
कर्मोदय से पापपुण्यमय, वह पुद्गल बन जाता है ॥

✦✦✦✦✦✦

यह मन जब अशुभ भावनाओं में भ्रमण करता है तब वह पाप और पुण्य दोनों पदार्थों का आश्रव करता है । यद्यपि यह आत्मा निश्चयनय से पूर्ण विशुद्ध कहलाता है, किन्तु कर्मोदय से वह पाप पुण्य दोनों का आगार-पुद्गल बन जाता है ।

पदार्थं पद विंदंतो; सुद्ध सहावेन निम्मल सरूवं ।
मिथ्या सल्य विमुक्कं, संसारे सरनि बन्ध जानेहि ॥७९९॥

++++++

जहां जीव अपने आतम का, नितप्रति अनुभव करता है ।
अपने ही नन्दन निकुंज में, वह नित जहां विचरता है ॥
जहाँ नहीं मिथ्या शल्यें हैं, वहीं मोक्ष का पंथ ललाल ।
और जहां पर पर-विभाव हैं, वहीं बंध का कलुषित धाम ॥

++++++

जहाँ जीव अपने आत्मा का ही विशुद्ध अनुभव करता है, जहाँ किसी प्रकार की शल्य नहीं हैं, बस वहीं मोक्ष का अभिराम पंथ है और जहां आत्मा के विभाव हैं वहीं बंध का निवास है ।

✻

संवरन राय दोसं, मिथ्या संसार सरनि संवरनं ।
ज्ञानमई अप्पानं, ज्ञान सहावेन संवरं भनियं ॥८००॥

++++++

रागद्वेष की बाढ़ रोककर, करना कुंठित उनका द्वार ।
भव भव पीड़ा देने वाला, और सुखाना यह संसार ॥
ज्ञानमई आतम में थिर हो, करना नितप्रति उसका ध्यान ।
कहते हैं संवर पदार्थ बस, इसको ही श्रीजिन भगवान ॥

++++++

रागद्वेष को बढ़ने से रोकना, इस संसार की जाली को तोड़ना और ज्ञानमई आत्मा में स्थिर होकर उसी का ध्यान करना, बस यही संवर पदार्थ है ।

निज्जरइ पुन्य पावं, भावं असुहं च त्रिविह कम्मानं ।
अप्प सहावं पिच्छदि परमप्पा निज्जरं ममलं ॥८०१॥

पुण्य पाप दोनों कर्मों को, जो कि गलाता है प्रतिवार ।
अशुभ भाव की होली रच जो, उन्हें नित्य करता है क्षार ॥
आतम परमातम को नित प्रति, जो अनुभव में लाता है ।
जिन शासन में वही निर्जरा, परम पदार्थ कहाता है ॥

जो पुण्य और पाप दोनों को गलाता है, अशुभ भावनाओं को क्षार क्षार करता है तथा आत्मा और परमात्मा का जो प्रतिवार स्मरण करता है, वही निर्जरा पदार्थ है ।

मोक्ष पदार्थं सुद्धं, अविगत रूवेन विगत भावेन ।
अप्पा परमानन्दं, परमप्पा ज्ञान निम्मलं सुद्धं ॥८०२

सपरश, रसना, गंध, वर्ण से जिसका विरहित काया ।
पड़ती जिस पर नहीं कभी भी, पर परणतियों की छाया ॥
बहती रहती नित्य जहां पर, परमानंदमयी रसधार ।
अगम ज्ञान का जो निधान है, मोक्ष पदार्थ वही सुखकार ॥

जिसकी स्पर्श, रस, गंध और वर्ण से पूर्ण विहीन काया है, पर परणतियों से जो दूर है तथा जिसमें परमानन्द परमात्मा की धार बहती है, वही मोक्षपदार्थ है ।

पदार्थं संसुद्धं, सुद्धंससहाव चेयना सहियं ।
संसार विगत रूवं, ज्ञान सहावेन सुद्ध पद विंदं ॥८०३॥

यदि सर्वोच्च पदार्थ कहीं है, तो बस वह है मोक्ष महान ।
कर्म मलों से रहित, शुद्ध जो, जगमग जग चैतन्य निधान ॥
सांसारिक परणतियें जिससे, रहती हैं कोसों ही दूर ।
ज्ञानसिन्धु में पैठ आत्मपद में जो नित रहता है चूर ॥

संसार में यदि कोई सर्वोच्च पदार्थ है, तो वह मोक्ष है। मोक्ष पदार्थ कर्ममलों से रहित है, चैतन्य का निधान है, सांसारिक पर परणतियों से दूर है तथा आत्मपद में निरन्तर रमण करने वाला है।

पदार्थं परम ध्रुवं, परमप्पा निम्मलं सरूवं ।
पदं पदार्थं सुद्धं, सुद्धं रागादि दोस विवरदो ॥८०४॥

मोक्ष पदार्थ परम है, ध्रुव है, अक्षय है, अविनाशी है ।
जहाँ नित्य निर्मल स्वभाव में, बसता घट घट वासी है ॥
मोक्ष एक पद है, पदार्थ है, सत, शिव, सुन्दर नित्य महान ।
बहता है कल कल कर जिसमें निजानंद का अगम निधान ॥

मोक्ष पदार्थ अमर, ध्रुव है तथा अविनाशी है, जिसमें कैवल्य का निवास है। मोक्ष वह सत्, शिव; सुन्दर पदार्थ है जिसमें निजानन्द रस की नित्यप्रति धार बहती रहती है।

पद सुद्धं मन सुद्धं, अप्पा परमप्प सुद्ध निम्मलयं ।
पदविंदं ससहावं, ज्ञान सरूवं च लहै निव्वानं ॥८०५॥

मोक्ष परम सुन्दर है, शिव है, निर्मल है, है कान्ताकार ।
बसते जो परिणाम वहाँ पर, उनका कौन शुद्ध अधिकार ॥
परम निरंजन निर्विकार का, वह अनुपम प्रासाद महान ।
ज्ञानरूप जो हो जाता वह, पा जाता वह पद निर्वान ॥

मोक्ष परम सुन्दर निर्मल है तथा कान्ताकार है। इस पद को वही प्राप्त करता है जो स्वयं ज्ञानरूप हो जाता है।

दव्वं दव्व सहावं, जीव दव्वं तिलोय संसुद्धं ।
छह गुन निवास सुद्धं, दो गुन अनाइ एक संजुत्तं ॥८०६॥

द्रवण या कि परिणमन रूप हो, जिसका शुद्ध स्वभाव महान ।
द्रव्य पदार्थ उसे ही कहता है, जिनशासन का विज्ञान ॥
षट् द्रव्यों में जीव द्रव्य है, सर्वश्रेष्ठ शुचि प्रतिभावान ।
षट में से दो या कि एक गुण, होता जिसमें सर्व प्रधान ॥

जिसका परिणमनस्वरूप स्वभाव हो, उसे ही द्रव्य कहते हैं। जीव द्रव्य षट द्रव्यों में सर्वश्रेष्ठ द्रव्य माना गया है। जिसमें षट् द्रव्यों में से एक या दो गुण सर्वप्रधान रहते हैं।

अस्ति अस्ति तिलोकं, वर दंसन ज्ञान चरन संजुत्तं ।
दंसेइ तिहु वनग्गं, ज्ञानमयो ज्ञान ससरूवं ॥८०७॥

जगतीतल के जिस कोने तक, है इस त्रिभुवन का विस्तार ।
वहां वहां तक जीव, जीव का असंख्यात व्यापी संसार ॥
रत्नत्रय का धारी है यह, है त्रिभुवन का दृष्टा भूप ।
ज्ञानमई है शुद्ध ज्ञान हो, है बस इसका एक स्वरूप ॥

जहां तक त्रिभुवन का विस्तार है, वहां तक जीव का पसारा है। जीव रत्नत्रय का धारी तथा शुद्ध ज्ञान गुणों का निधान होता है।

अस्ति चरन संजुत्तं, अस्ति सरूवेन सहाव निम्मलं सुद्धं ।
विगतं अविगत रूवं, चेयन संजुत्त निम्मलो सुद्धो ॥८०८॥

वीतरागता से मंडित है, जीव द्रव्य का पुण्य चरित्र ।
सपरस, रसना, गंध, वर्ण से, पूर्ण अछूता इसका चित्र ॥
निराकारिता से गुम्फित है, यद्यपि इसकी फुलवारी ।
तो भी यह विराट है, है यह प्रदेशत्व गुण का धारी ॥

जीवद्रव्य वीतरागता से मंडित रहता है तथा स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदि से पूर्ण अछूता रहता है। यद्यपि निराकारता ही इसका आकार है, तो भी वह प्रदेशत्व गुण का धारी होता है।

वस्तुत्वं वसति भुवने, वस्तुत्वं ज्ञान दंसन अनन्तो ।
नन्तानन्त चतुष्टं, वस्तुत्वं तिलोय निम्मलो सुद्धो ॥८०९॥

प्रथम कि यह वस्तुत्व जीव में, 'जग में है उसका आगार' ।
यह द्वितीय वस्तुत्व, 'ज्ञान का, दर्शन का वह पारावार' ॥
यह तृतीय वस्तुत्व कि 'वह है नन्त चतुष्टय का धारी' ।
यह चतुर्थ वस्तुत्व कि 'उससा कहीं न कोई अधिकारी' ॥

जीवद्रव्य में चार वस्तुत्व गुण अनिवार्य रूप से पाये जाते हैं (१) संसार में वह निवास करता है (२) वह ज्ञान दर्शन का निधान होता है (३) वह अनन्त चतुष्टय का धारी होता है तथा (४) उसके समान दूसरा कोई अधिकारी पदार्थ नहीं होता ।

अप्रमेयं अप्रमानं, अप्पा परमप्प दिट्ठि अप्रमेयं ।
सुद्ध सरूवं रूवं, ज्ञानं विमल केवलं सुद्धं ॥८१०॥

अप्रमेय है जीव द्रव्य यह, नहीं कि इसका कहीं प्रमाण ।
आतम परमातम के द्वारा ही बस होता इसका ज्ञान ॥
इसका शुद्ध स्वभाव मात्र ही, है बस इसका रूप अनूप ।
ज्ञान यही, यह वीतरागमय, दिव्यरत्न केवल का भूप ॥

जीव द्रव्य अप्रमेय है, इसका कहीं कोई प्रमाण नहीं, आतमा परमात्मा के द्वारा ही इसका ज्ञान प्राप्त होता है । इसका शुद्ध स्वभाव ही इसका रूप होता है तथा केवलज्ञान ही इसका प्रधान भूषण ।

गुरु तियलोय पमानो, लघुवित करित अप्प सुद्धसद्भावो ।
गुरुत्वं लघु सं उत्तं, ज्ञानमयो सुद्ध दंसनं ममलो ॥८११॥

जीव द्रव्य है गुरुत्तम ऐसा, इसमें लय तीनों संसार ।
लघु ऐसा इसका स्वभाव ही, इसका एकमात्र आकार ॥
ज्ञान और दर्शन होता, है यह एक अनन्य निधान ।
अगुरुलघुत्व यही, इसमें यह, नहीं छोड़ता अपनी आन ॥

जीव द्रव्य तीनों संसार का निधान होने से गुरु है तथा स्वभावाकार होने से लघु है। ज्ञान और दर्शन का यह भंडार होता है तथा अपना स्वभाव यह नहीं छोड़ता, इसी से यह अगुरुलघुत्व रूपमय जाना जाता है।

चेयन सुद्ध सहावं, चेयन संसार विगत रूवेन ।
कम्ममल पयडिषयंतो, चेयन रूवेन निम्मलो सुद्धो ॥८१२॥

चेतन का या शुद्ध द्रव्य का, है स्वरूप निर्मल पावन ।
पर विभाव के शूलों से है, शून्य कि इसका नंदन-वन ॥
नष्ट भ्रष्ट कर देता है यह, कर्म सुभट का कारागार ।
है यह चेतनरूप निरंजन, ज्ञान गुणों का पारावार ॥

चेतन का स्वभाव निर्मल और पवित्र है, पर विभाव परणतियें इसके पास नहीं आतीं। कर्मों को यह चकनाचूर कर देता है तथा ज्ञान आदि गुणों का यह अखण्ड भंडार होता है।

रूवं अविगत रूवं, अविगत रूवेन निम्मलो सुद्धो ।
अप्पा परमप्पओ, ज्ञानमई रूव निम्मलो सुद्धो ॥८१३॥

*****

यद्यपि जीव अमूर्त रूप है, है वह पूर्ण विमल आकार ।
किन्तु ज्ञानमय होने से वह, है सदेह है, ज्ञानाकार ॥
वह आतम है, पर वह आतम परमातम है जिसका नाम ।
रागादिक मल से विहीन वह, ज्ञान गुणों का अनुपम धाम ॥

*****

यद्यपि जीव पूर्णरूपेण निराकार रहता है तो भी ज्ञानमय होने से वह ज्ञानाकार सदेह गिना जाता है । वह आत्मा का पर्यायवाची शब्द है । और वह आत्मा निश्चय से वह आत्मा होता है जो रागादिक मल से विहीन परमात्मा कहा जाता है ।

ऊर्ध ऊर्ध सहावं, सुद्धं सर्वज्ञ चेयना सहियं ।
ऊर्ध अविगत रूवं, सुद्धं सुयमेव परम आनंदं ॥८१४॥

*****

जीव द्रव्य सब द्रव्यों में है, श्रेष्ठ, ऊर्ध्व गति का धारी ।
शुद्ध, बुद्ध, सर्वज्ञ और यह वीतराग है अविकारी ॥
निराकार होने पर भी यह ज्ञानरूप है, है साकार ।
रागादिक से है विमुक्त यह, परमस्वतन्त्र सौख्य-आगार ॥

*****

जीव द्रव्य सब द्रव्यों में श्रेष्ठ ऊर्ध्वगति का धारी होता है । वह शुद्ध, बुद्ध, सर्वज्ञ और वीतराग होता है । निराकार होने पर भी वह ज्ञानाकार होता है तथा रागादिक से रहित होने के कारण सुख का अपार भण्डार होता है ।

एकेन एकवंतो, एको संसार सरनि विगतोय ।
एको तिय लोय संजुत्तो, परमानंद नंद संजुत्तं ॥८१५॥

संग्रह नय से जीव एक है, एक जीव गुण का धारी ।
यह भव-भ्रमण विहीन, अकेला है, न्यारा है अविकारी ॥
त्रिभुवन के प्रमाण का होता, केवल इसका एक शरीर ।
बहता रहता है नित उसमें, परमानन्द-स्वभावी नीर ॥

संग्रह नय से जीव, एक जीवगुण का धारी होता है, यह भवभ्रमण से हीन, अकेला तथा अविकारी पदार्थ होता है। इसका शरीर त्रिभुवन प्रमाण होता है तथा परमानन्द रस इसमें, नित्यप्रति अविरल गति से बहता रहता है।

जीवं दव्व संजुत्तं, संसारे विषय राग परिचत्तो ।
दंसन ज्ञान सहावो, चरनंपि जीव दव्व चेयना जुत्तो ॥८१६॥

जो संसार, शरीर, भोग से पूर्ण विरत हो न्यारा हो ।
दर्शन और ज्ञान दोनों का, जो अनमोल किनारा हो ॥
जिसकी वीतरागता पाकर, होती हो कृतकृत्य मही ।
जो चेतन से ओतप्रोत हो, जीव द्रव्य है एक वही ॥

संसार से जो विरत हो, दर्शन और ज्ञान का जो निधान हो, वीतराग हो तथा चैतन्यगुण से मंडित हो, वही जीव द्रव्य है।

अज्जीवं पिच्छंतो, अनृत अचेत इंदिया सहिओ ।
मन सुभाव संचरतो, अतिंद्री भ्रानदव्व संजुत्तो ॥८१७॥

जीव द्रव्य के साथ लगे हैं, जो इंद्रिय मन कर्म शरीर ।
वे सब हैं मिथ्या अचेत, जड़, पुद्गल की ही बस तस्वीर ॥
यह भव भ्रमण कराने वाला, मन भी पुद्गल है मतिमान ।
जिनके साथ लगा है चेतन, लेकर जगमग जग से प्राण ॥

जीव द्रव्य के साथ जो इन्द्रिय, कर्म या शरीर लगे हैं, वे सब मिथ्या हैं और पुद्गल हैं । मन भी पुद्गल है, जिसके साथ हमारा अविनाशी चेतन लगा हुआ है ।

धम्मं चेयन रूवं, अचेयन भाव सयल विवरीदो ।
चेयन सहाव सुद्धो, धम्म झाने हि अप्प परमप्पो ॥८१८॥

धर्म चेतना का स्वभाव है, है आतम का रूप पुनीत ।
हैं जितने भी भाव अचेतन, उन सबसे है यह विपरीत ॥
है यह शुद्ध स्वभावी इसमें, नहीं विभाव दिखाता है ।
धर्मध्यान से इस आतम में, परमातम जग जाता है ॥

चेतन का धर्म स्वभाव है, अचेतन पदार्थ में धर्म नहीं होता । चेतन शुद्ध स्वभावी होता है और धर्म से इसमें परमात्मा का प्रकाश हो जाता है ।

अहमं अशुद्ध भावो, संसारे सरनि सयल संजुत्तो ।
स्थितबंध संजुत्तो, ठिदि करनोय अस्थिरी भूतो ॥८१९॥

जो अधर्म है, उसका भाई, है काजल सा कलुषित रूप ।
उसके कारण ही यह मानव, भ्रमता है भव भव के कूप ॥
यह अधर्म ही पहिनाता है, उसको कर्मों की जंजीर ।
जो तब ही विदीर्ण होती हैं, जब आ जाता उनका तीर ॥

अधर्म के कारण ही यह मनुष्य चारों गतियों में भटकता है और यही उसको कर्मों की जंजीर पहिनाता है, जो तभी टूटती है जब उनकी अवधि समाप्त हो जाती है ।

अहंम्म सुद्ध सहाओ, चित्तं चिंतति अप्प सद्भावं ।
ज्ञान ज्ञान थिर सुद्धो, स्थिरं मुक्ति नन्त काल संजुत्तो ॥८२०॥

'अहम्' 'अधर्म' और 'मैं' तीनों एक शब्द के ही हैं नाम ।
तुम अधर्म को धर्म बना दो करो भावना नित्य ललाम ॥
मैं हूँ शुद्ध और मैं शिव हूँ, मैं विराग मैं अविनाशी ।
निजानन्द रस पीने वाला, मैं हूं सिद्धालय वासी ॥

अहम्, अधर्म और मैं तीनों एक शब्द के ही नाम हैं । यदि तुम मैं को समाप्त करना चाहते हो तो अधर्म को धर्म बना दो और वह इस तरह कि तुम अनुभव करो कि मैं शुद्ध हूं, शिव हूं तथा निजानन्द का वासी हूँ ।

काल दव्व स सहावं, अन्तर गर्भओ परिनमै असंख्यं ।
परिनाम अनन्तानन्तु, निश्चै व्यवहार काल स सहावं ॥८२१॥

यह जो लोकाकाश कि इसके, प्रति प्रदेश में ढेर प्रमाण ।
व्याप्त हो रहा कालद्रव्य यह, पल पल छिन छिन एक समान ॥
काल द्रव्य की ही पर्यायें, तीनों काल कि हैं मतिमान ।
आतम का भी कालद्रव्य सा, है स्वभाव सित सौम्य सुज्ञान ॥

लोकाकाश के कण कण में काल द्रव्य व्याप्त हो रहा है । ये तीनों काल कालद्रव्य के ही रूप हैं । इस आत्मा का भी काल द्रव्य सा ही स्वभाव है ।

अवयास दान सुद्धो, सुद्धं अवयास दिस्टि नन्त दर्संतो ।
ज्ञानं अनंत रूवं, चरनं सुद्ध चेयना अवयासो ॥८२२॥

यह आकाश आत्मा-सा ही देता है सबको अवकाश ।
जग के सारे ही पदार्थ को देता यह सम्यक्त्व प्रकाश ॥
त्रिभुवन का यह ज्ञाता होता, होता है यह ज्ञान निधान ।
ज्ञान चेतना का होता यह, शुद्ध द्रव्य आगार महान ॥

यह आकाश, आत्मा के समान ही सबको अवकाश देता है, जग के सारे पदार्थों को यह सम्यक्त्व का प्रकाश देता है । यह त्रिभुवन का ज्ञाता होता है तथा होता है ज्ञान चेतना का अखंड भंडार ।

दव्व भाव उवएसं, दव्व सहावेन सरूव पिच्छंतो ।
अप्पा अप्प सरूवं, दव्व सहावेन जीव संमुद्धो ॥८२३॥

छह द्रव्यों का दिया गया है, जो भी यह उपदेश विमल ।
उसे ग्रहण कर विज्ञानी जन, देखें अपना आत्म कमल ॥
उन्हें दिखेगा मैं आतम हूं, मुझमें परमातम का वास ।
शेष द्रव्य सब वे विभाव हैं, जो देते भव भव में त्रास ॥

षट द्रव्यों का यह जो उपदेश दिया गया है, उसे ग्रहण कर विवेकी जन अपने आत्म कमल को देखें । उनको अनुभव होगा कि मुझमें ही परमात्मा का वास है — मैं स्वयं परमात्मा हूं । इस आत्मा से परे जो अन्य पदार्थ हैं, वे सब विभाव हैं, जो भव भव में त्रास देते हैं ।

काया काय प्रमानो, जीवास्तिकाय जिनवरे उवएसो ।
चौविहि बंध विमुक्को, जोओ तियलोय मंत सुपएसो ॥८२४॥

पंचद्रव्य के काया से ही, होते बहुसंख्यात प्रदेश ।
अस्तिकाय कहते हैं इससे, जिनशासन में इसे जिनेश ॥
जीव अस्ति को नहीं फांसता, कभी चतुर्बन्धों का जाल ।
तीन लोक सा ही होता यह असंख्यात देशीय, विशाल ॥

पंचद्रव्यों के काया से ही असंख्यात प्रदेश होते हैं, इससे इन्हें अस्तिकाय भी कहते हैं । जीवास्तिकाय चतुर्बन्धनों के जाल में नहीं फंसता और यह तीनों लोक सा ही असंख्यात् प्रदेशीय होता है ।

नंत चतुष्टय सहिओ, नंतानंत दिष्टि सुद्ध दसंतो ।
परभाव मुक्क समओ, ज्ञान संजुत्त काय उवएसो ॥८२५॥

••••••

जीवकाय में चार चतुष्टय, नित प्रति शोभा पाते हैं ।
ज्ञानमुकुर में इसको युगपत्, तीनों लोक दिखाते हैं ॥
रागद्वेष पर भावों से यह, पूर्ण रहित दिखलाता है ।
ज्ञान सहित है इसीलिये यह, जीव अस्ति कहलाता है ॥

••••••

जीवकाय में चार चतुष्टय नित्यप्रति शोभा पाते रहते हैं । वह तीनों लोकों का युगपत् दृष्टा होता है । रागद्वेष भावों से वह हीन होता है, ज्ञान सहित होता है और इसी से जीवास्तिकाय कहलाता है ।

✱

अजीव काय भनियं, इन्द्री बल प्राण अतींद्रिया जुत्तो ।
सहकारे इन्द्रि उत्तो, अतिंद्री सहाव अजीव काय संजुत्तो ॥८२६॥

••••••

पांचों ही इन्द्रियां और मन, वचन, काय, बल ये सब प्राण ।
द्रव्य, भाव, दोनों नयनों से, है अजीव पुद्गल मतिमान ॥
होती हैं मतिमान प्राप्ति में पांचों इन्द्रिय सहकारी ।
पुद्गल के संग में रमता है, जीव अतीन्द्रिय पद धारी ॥

••••••

पांचों इन्द्रियां, मन, वचन काय और प्राण ये द्रव्य और भाव दोनों दृष्टियों से अजीव होते हैं । मति ज्ञान प्राप्ति में पांचों इन्द्रियां, सहकारी होती हैं और पुद्गल के साथ यह अतीन्द्रिय जीव भी रमण किया करता है

धमास्ति धम्म संजुत्तो, चेयन परिनाम सरूव सहकारो ।
चेयन सुद्ध सहाओ, संजुत्तो धमास्तिकायममलोय ॥८२७॥

******

धर्मकाय क्या है ? आतम है, है जिसका शुचि शुद्ध स्वरूप ।
जगमग जग करता है जिसमें, निरंकार, चेतन चिद्रूप ॥
रागद्वेष का दलबल जिसके, पास न जाने पाता है ।
ऐसा निर्विकार चेतन हो, धर्मकाय कहलाता है ॥

******

धर्मकाय चेतन का ही दूसरा रूप है । रागद्वेष जिस द्रव्य के पास नहीं आते, जो चेतन और चिद्रूप है, वही निर्विकार द्रव्य धर्मकाय कहलाता है ।

✱

अर्हम काय संजुत्तो, ठिदिकरन सयल असुद्द सुद्द सुद्धं ।
सुद्धं काये बंधं, ज्ञान ज्ञान तव दंसनं दिट्ठं ॥८२८॥

******

मैं इस काया की नगरी में, सत् चित् रूप विचरता हूं ।
सकल भाव ठहरा, निज में नित शुद्ध परिणमन करता हूँ ॥
असंख्यात जिसके प्रदेश हैं, ऐसा हूं मैं ज्ञानाकार ।
ज्ञान, ध्यान, तप, सम्यग्दर्शन, होते नित मुझमें साकार ॥

******

मेरा आत्मा काया की इस नगरी में रहता हुआ सत् चित रूप विचरण किया करता है । मैं असंख्यात प्रदेश रूप ज्ञान का भण्डार हूँ, जिसके ज्ञान में ज्ञान, ध्यान, तप तथा दर्शन नित्य-प्रति साकार होते रहते हैं ।

अवयासं उवएसं, अप्पा परमप्प अवयास संमुद्धं ।
विलसे परमानंदं, ज्ञान सरूवं च अवयास संमुद्धं ॥८२९॥

******

यह आतम परमातम ही बस, अस्तिकाय आकाश महान ।
ज्ञान दृष्टि से जो त्रिभुवन में, व्याप्त रहा आकाश समान ॥
सर्व कर्म से रहित, कि यह है, अविनाशी आनन्द निकुंज ।
है आकाश समान यही बस, निर्मल शुद्ध ज्ञान का पुंज ॥

******

आकाश अस्तिकाय क्या है ? केवल यह आत्मा ही, जो ज्ञान दृष्टि से त्रिभुवन में, आकाश के समान ही व्याप्त हो रहा है । आकाश के समान ही यह आत्मा अविनाशी तथा आनन्द का निधान है तथा आकाश के समान ही यह शुद्ध निर्मल ज्ञान का पुञ्ज है ।

*

कालं काय न जुत्तं, अनंत परिनमै बन्ध नहु जुत्तं ।
परिनमै अनंतानंतं, कालं काया नत्थि उवएसं ॥८३०॥

******

होता है इस काल द्रव्य का, कोई भी आकार नहीं ।
करते वे परिणमन, न होते, किन्तु बंध को प्राप्त कहीं ॥
जीव द्रव्य भी इसी तरह से, नित्य परिणमन करता है ।
किन्तु कभी भी किसी कर्म से, बंधा नहीं वह फिरता है ॥

******

जिस तरह से काल द्रव्य का कोई आकार नहीं होता और वह परिणमन करते हुए भी बंध को प्राप्त नहीं होता, उसी प्रकार आतमा का भी स्वरूप है । परिणमन करते हुए वह निश्चयनय से कभी बंध को प्राप्त नहीं होता ।

तत्तु पदार्थं उत्तं दव्वं काय भाव उत्तं च ।
अप्प सरूवं पिच्छदि, अप्पा परमप्प सुद्ध सुह निलयं ॥८३१॥

सात तत्त्व औ नौ पदार्थ के, किये गये जो जिन के बोल ।
छहों द्रव्य, पंचास्तिकाय का, हुआ विवेचन जो अनमोल ॥
उन सबको मथकर विज्ञानी, यही प्राप्त करता है सार ।
यह आतम-परमातम ही है, एक मात्र सुख का आगार ॥

सात तत्त्व, नौ पदार्थ, षट् द्रव्य और पंचास्तिकाय का सार केवल इतना ही है कि वह आत्मा ही परमात्मा है और यही एकमात्र सुख का आगार है ।

धर्म और शुक्ल ध्यान

इस्टं अरूव रूवं, कम्म विमुक्क निम्मलं भावं ।
इस्टविओयं दिस्टदि, आरति पाए सुदुग्गए जाए ॥८३२॥

त्रिभुवन तल में इष्ट, इष्ट से इष्ट एक बस आतमराम ।
वह आतम है सकल कर्म से रहित कि जिसका सुन्दर धाम ॥
आतम से जिसका वियोग है, आर्तध्यान वह धरता है ।
इष्ट वियोगज आर्तध्यान से, वह भव भव में फिरता है ॥

त्रिभुवन तल में यदि कोई इष्ट पदार्थ है तो वह बस अपना आत्मा । आत्मा से जो दूर रहता है वह इष्ट वियोग आर्तध्यान धरता है और कर्मों के बंध में फसता है ।

अनृित मिथ्या भावं, संसारे सरनि सरंति सद्भावं ।
रागादि दोष जुत्तं, आर्रति पाएन सरनि संसारे ॥८३३॥

जितने भी मिथ्यात्वभाव हैं, वे हैं पूर्ण अहितकारी ।
बुझने कभी नहीं देते जो, भव की दाहक चिंगारी ॥
इन अनिष्ट भावों से जिनका, हो जाता है कटु संयोग ।
वे अनिष्ट संयोग आर्त से पाते रहते नित भव रोग ॥

जितने भी मिथ्यात्व भाव हैं, वे सब पूर्ण अहितकारी होते हैं, जो संसार का कभी सूखने नहीं देते । इन अनिष्ट भावों से जिनका संयोग हो जाता है वे अनिष्ट संयोग आर्त ध्यान में फंसकर नित्यप्रति संसार के दुख सहते रहते हैं ।

पीडा अनृत दिट्ठं, असत्य असास्वतेन सद्भावं ।
मिथ्या सल्य संजुत्तं, आरति पाएन दुग्गए गमनं ॥८३४॥

मिथ्यादृष्टि जगत में भाई, है सबसे भीषण पीड़ा ।
जिसकी नश्वर परिणति में नर, नित करता रहता क्रीड़ा ॥
होता मिथ्यादृष्टि चिंतवन, मिथ्याशल्यों का आगार ।
पीड़ा चिंतन आर्तध्यान से, पाता नर नाना संसार ॥

संसार में यदि कोई सबसे बड़ा दुख है, तो वह है मिथ्यादृष्टि का चिंतवन । मिथ्यादृष्टि का चिंतवन मिथ्या शल्यों का कारण होता है और पीड़ा चिंतन नाम के आर्तध्यान को जन्म देता है जिसके फलस्वरूप मनुष्य नाना भांति की दुर्गतियों का पात्र बनता रहता है ।

निदान बंध संसारे, संसारे सरनि सरइ मोहंधं ।
मन मक्कड परसंतो, आरति संजोय निगोय वासंमि ॥८३५॥

इस भव से ही जकड़े रहना, होता यह ही एक निदान ।
इस निदान में पड़कर प्राणी, सहता रहता दुःख महान ॥
भव-लोलुप प्राणी का मनुआ, नित्य परिभ्रमण करता है ।
और निदान बंध में पड़कर, नित निगोद तन धरता है ॥

इस संसार से ही बंधे रहने को 'निदान' कहते हैं, जिसमें यह मनुष्य दिनरात पड़ा रहता है । भवलोलुप मनुष्य का मन दिन रात संसार में ही परिभ्रमण किया करता है और निदान-बंध का कारण बनता रहता है ।

आरति ध्यान स उत्तं, आरति संसार वाय संजुत्तं ।
आरति कुज्ञान सहावं, आरति संसार भावना हुन्ती ॥८३६॥

जिसमें यह संसार निहित हो, या हो जिसमें पीड़ा क्लेश ।
आर्तध्यान कहते हैं उसको ही बस तारन तरन जिनेश ॥
जहां जहां होगा ऐहिक सुख से पूरित मिथ्यात्व स्वभाव ।
वहां वहां ही आर्तध्यान का, होगा निश्चय से सद्भाव ॥

जिसमें यह संसार भरा हो या जिसमें पीड़ा हो या क्लेश हो वही आर्तध्यान कहलाता है । जहां जहां संसार के सुखों से पूरित मिथ्यात्वभाव होगा, वहां वहां निश्चय से आर्तध्यान विद्यमान होगा ।

आरति अप्प सहावं, अप्पा परमप्प निम्मलं भावं ।
आरति ज्ञान अवयासं, ज्ञान सहावेन निव्वुए जंतो ॥८३७॥

आरति का है सही अर्थ यह, सम्यक् विधि से रमण करो ।
आर्तध्यान को छोड़ इसीसे, तुम आतम का मनन करो ॥
आतम को परमातम समझो, रमो ज्ञान में भली प्रकार ।
ज्ञान पोत पर चढ़कर ही नर हो जाता है भव के पार ॥

आर्तध्यान का ज्ञानदृष्टि से अर्थ है अरति संसार से अरति रखकर, आत्म में रमण करना । उचित यही है कि तुम आतम को परमातम समझो और इसी पर चढ़कर संसार के पार उतर जाओ ।

हिंसानन्द सुभावं, पर पुग्गल उत्पाद पुण्य सहकारं ।
पुन्य पाव उवयन्नं, मिथ्या कुज्ञान संजदो होई ॥८३८॥

हिंसानंदी रौद्रध्यान का, होता यही स्वभाव असार ।
पुण्य पाप का ही वह नितप्रति रचता रहता है संसार ॥
पुण्य पाप, पावन आतम की नितप्रति हिंसा करते हैं ।
और इसी से हिंसानंदी, नितप्रति भव २ फिरते हैं ॥

हिंसानंदी, रौद्र ध्यान धरने वाले पुण्य और पाप का ही नित्यप्रति संसार रचा करते हैं । पुण्य और पाप आत्मा की नित्यप्रति हिंसा करते हैं और इसीसे हिंसानंदी रौद्र ध्यान वाले संसार में ही भ्रमण करते हैं ।

अनृत दिस्टि सहावं, अनृत पिच्छंति ऋतं तिक्तं च ।
अनृत नंद स रौद्रं रौद्र झानेन नरय वासंमि ॥८३९॥

जहां नित्य बजता रहता है, कटु मिथ्यात्वमयी संगीत ।
जहां हेय माना जाता है, यह आतमधन परमपुनीत ॥
जहां कि यह संसार, और बस, यह संसार सुनाता है ।
रौद्र मृषानंदी उस थल ही, अपना नरक बसाता है ॥

मिथ्यात्व का जो परम पुजारी होता है; आत्मा को हेय मानता है और संसार से ही को अपना नाता बनाये रखता है वही मृषानंदी रौद्र ध्यान धारी होता है ।

स्तेयानंद नंदितं पद लोपन विकह भाव संजुत्तो ।
मिथ्या असुह सुभावं, सल्यं विषयं च रौद्र झानत्थं ॥८४०॥

जहां आत्मा के भावों की, चोरी होती नित्य महान ।
चार कथाओं का होता है, और जहां निशप्रति गुणगान ॥
जहां शल्य, मिथ्यात्व, मोह का, प्याला छलका करता है ।
चौर्यानन्दी रौद्र ध्यान बस, वहीं निशंक विचरता है ॥

जहां नित्यप्रति आत्मा के भावों की चोरी होती है; चार कषायों की जहां निरंतर पूजा होती है तथा शल्य और मिथ्यात्व भाव जहां निरन्तर विद्यमान रहते हैं, वहीं चौर्यनंदी रौद्र ध्यान होता है ।

अबम्भ भाव जुत्तो, मिथ्या कुज्ञान असुह परिनम्य ।
चिंतंति विषय रागं, मन सहकारेन रौद्र नरयंमि ॥८४१॥

होता है अब्रह्म भाव का, जो प्रतिबिम्ब पूर्ण साकार ।
बरसा करती है ममत्व की, जिसमें नित कलुषित जलधार ॥
रागद्वेष करते हैं जिसमें, दलबल सहित निरन्तर वास ।
होता विषयानन्द रौद्र वह, जो देता नित नर्क निवास ॥

जो अब्रह्म भाव का पूर्ण प्रतिबिम्ब होता है, ममता जिसमें निवास करती है तथा रागद्वेष जिसमें नित्यप्रति विचरण करते हैं, वही विषयानंदी रौद्रध्यान होता है ।

रौद्रध्यान सुभावं, नरयं तिरियं कुदेव दुह सहनं ।
अन्नान मूढ भावं, रौद्र झानंमि नरय वीयंमि ॥८४२॥

रौद्रध्यान में ही जो मानव, मगन नित्यप्रति रहते हैं ।
वे कुदेव, तिर्यंच, नारकी, बन अगणित दुख सहते हैं ॥
रौद्रध्यान की हर साँसों में, सांस ले रहा है अज्ञान ।
यह ध्रुव है, यह परम सत्य है, रौद्र नर्क का बीज निदान ॥

जो प्राणी रौद्रध्यान में ही डूबे रहते हैं, वे कुदेव, नारकी, तिर्यंच आदि में जन्म लेकर नित्य प्रति अगणित दुःख सहा करते हैं । रौद्रध्यान में अज्ञान प्रधान होता है और इसी अज्ञान के कारण मनुष्य नर्क में जाकर यातनाएं सहता रहता है ।

अप्पा अप्प सरूवं, कम्म निकन्दंति तिविह जोएन ।
ज्ञान सहाव स रौद्रं, मिथ्यामय कम्म निद्दले साहू ॥८४३॥

*****

रौद्रध्यान हिंसक भावों को, हो कहते हैं बस मतिमान ।
हिंसा यदि करना है तुमको, तो कर्मों को करो सुजान ॥
निज को निज में लय कर कर दो, त्रिविधि गुप्ति से कर्म विनाश ।
और इस तरह रौद्रध्यान धर, कर दो नष्ट कर्म की पाश ॥

******

रौद्रध्यान में हिंसा प्रधान होती है। हे विज्ञो ! यदि तुम्हें हिंसा ही करनी है, तो अपने कर्मों की करो। अपने को अपने में ही लय कर, त्रिविधि योग से तुम अपने कर्मों को क्षार कर डालो और रौद्रध्यान को निभा लो।

*

आज्ञा अप्प सहावं, अप्पा परमप्प भाव संजुत्तं ।
जिनवयनं सद्दहनं, ज्ञान सहावेन आज्ञा संजुत्तं ॥८४४॥

******

श्री जिनेन्द्र के अमृत के सम, वचनों पर करके श्रद्धान ।
आतम को परमातम तत्व में, करना लय यह ही है ध्यान ॥
ज्ञानरूप होकर आतम का, जगता ध्यान जहां भाई ।
आज्ञाविचय नाम का होता, ध्यान वहां ही सुखदाई ॥

******

श्री जिनेन्द्र प्रभु के वचनों पर श्रद्धान करके आत्मतत्व को परमात्मतत्व में लीन करने को ही ध्यान कहते हैं। जहां पर ज्ञानरूप होकर, आत्मा का ध्यान जगता है, वहीं आज्ञाविचय नाम का ध्यान होता है।

अप्पा परमप्पानं, चेयन रूवेन धम्म झानत्थं ।
मल मुक्क दंसन धरयं, ज्ञान झानेन धम्म सहकारं ॥८४५॥

✦✦✦✦✦✦

आतम को परमातम जानकर, चेतन में होना लवलीन ।
निर्मल सम्यग्दर्शन धरना, सर्व मलों को करके क्षीण ॥
होता है कि 'अपाय विचय' सा, धर्मध्यान यह सुखदाई ।
आतम का ही एक नाद बस, सुन पड़ता जिसमें भाई ॥

✦✦✦✦✦✦

आत्मा को परमात्मा मानकर उनमें लवलीन होना; सब पापों को क्षीण कर निर्मल दर्शन का धारण करना, बस यही 'अपाय विचय' नाम का धर्म, ध्यान होता है ।

✱

विसुद्ध सुद्ध भावं, मिथ्या रागादि सयल विरयंमि ।
रयनत्तय ज्ञान सहावं, कम्मानि डहै धम्म झानत्थं ॥८४६॥

✦✦✦✦✦✦

रागद्वेष की जितनी भी हैं, ये कज्जल काली टोली ।
उन सब की रच एक साथ ही एक समय में ही होली ॥
निर्मल वीतरागमय होकर, आत्मध्यान जो धरता है ।
विचयविपाक ध्यान के द्वारा, वह सब मल क्षय करता है ॥

✦✦✦✦✦✦

रागद्वेष को नष्ट करके जो निर्मल होकर मन वचन काय के योग से आत्मा का ध्यान करता है वह ही विचय विपाक धर्म ध्यान की साधना करता है ।

संस्थानं पंच सुभावं चिंतइ वरज्ञान दंसनं सुद्धं ।
ज्ञान उवन्नं पिच्छदि, पदविंदं केवलं ज्ञानं ॥८४७॥

पंच परम प्रभुओं के पद का, होता है जिसमें चिन्तन ।
सम्यग्दर्शन और ज्ञान में होता जहां सदैव रमण ॥
होता यह संस्थान विचय है, प्रतिपल बढ़ता जिसमें ज्ञान ।
बढ़ते बढ़ते ज्ञान जहां पर, हो जाता कैवल्य महान ॥

जिसमें परमेष्ठी प्रभुओं का चिन्तन होता है; सम्यग्दर्शन और ज्ञान का जिसमें मनन होता है, वही संस्थान विचय धर्मध्यान होता है । इस ध्यान में प्रतिपल ज्ञानोत्तर बढ़ता जाता है और एक समय वह आता है, जब यही ज्ञान केवल ज्ञान में परणित हो जाता है ।

धम्मज्झानं झायदि, अविगत रूवेन दंसनं सुद्धं ।
अप्पा परमानन्दं, परमप्पा लहे निव्वानं ॥८४८॥

निराकार निर्मूर्त किन्तु जो, होता ज्ञानाकार महान ।
धर्मध्यान में एक उसी बस, आतम का होता है ध्यान ॥
जब यह आतम, परमातम में, लय होकर खो जाता है ।
आतम का तजरूप कि तब वह, परमातम हो जाता है ॥

धर्म ध्यान में केवल निर्मूर्त आत्मा का ही ध्यान होता है । जब यह आत्मा निश्चल होकर परमात्मा में रम जाता है, तब वह स्वयं ही शुद्ध बुद्ध परमात्मा हो जाता है ।

गय संकप्प वियप्पं, अप्पा परमप्प ममल ज्ञानस्य ।
विगतं अविगत रूवं, सून्य सहावेन अप्प परमप्पं ॥८४९॥

शेष नहीं रह गये जहां पर, हैं कोई संकल्प विकल्प ।
रागद्वेष या मोह जहां पर दिखते नहीं स्वल्प से स्वल्प ॥
परमातम में जहां लीन है, ज्ञानमई आतम अविकार ।
प्रथम ध्यान है शुक्ल शुद्ध वह, बस 'पृथकत्व वितर्क विचार ॥'

जहाँ पर संकल्प विकल्प बिलकुल ही मिट जाते हैं, रागद्वेष और मोह जहाँ पर पूर्णरूप से नष्ट हो जाते हैं तथा जहां परमात्मा में ही आत्मा रमण करता है, बस वहीं पृथकत्व वितर्क वीचार नाम का शुक्लध्यान होता है ।

*

एकं जिनं सरूवं, मल मुक्कं अनंतदंसनं सुद्धं ।
ज्ञानं ज्ञान सरूवं, ज्ञान सहावेन निव्वुर जंती ॥८५०॥

जहां एक जिन का स्वभाव है, शेष न कोई अन्य स्वभाव ।
क्षायिक सम्यग्दर्शन का हो, मात्र जहां पर है सद्भाव ॥
ज्ञान-महोदधि के अंतर में, लेता जहां ज्ञान विश्राम ।
वह एकत्व वितर्क नाम का, शुक्लध्यान निर्मल अभिराम ॥

जहाँ केवल परमात्मा का स्वभाव ही दृष्टिगोचर होता है, क्षायिक सम्यग्दर्शन ही जहां यत्र तत्र दिखाई देता है तथा सर्वत्र जहां ज्ञान की झांकी दिखाई देती है, वहीं एकत्व वितर्क नाम का शुक्लध्यान जाना जाता है ।

सूक्षम भाव स उत्तं, सूक्ष्मं प्रतिपाल सूक्षमं चरनं ।
सूक्षम धम्मज्झानं, ज्ञान सहावेन ज्ञान संजुत्तं ॥८५१॥

जहां शेष कुछ नहीं, शेष है यदि कुछ तो कि सूक्षम काया ।
हलन चलन को छोड़ जहां पर, दिखतो नहीं अन्य छाया ॥
जहां दृष्टिगोचर होता है, मात्र सूक्ष्म स्वाभाविक ज्ञान ।
शुक्ल ध्यान होता है वह हो, सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपात महान ॥

जहां सूक्ष्म काया और हलन चलन को छोड़कर अन्य कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता, केवल स्वाभाविक ज्ञान ही दिखाई देता है, वहीं सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति नाम का शुक्ल ध्यान होता है ।

पिरियो अप्प संजुत्तं, विप्रिय मुक्तस्य सुद्ध स सहावं ।
ज्ञान ज्ञान संजुत्तं, अविगत रूवेन सिद्धि संपत्तं ॥८५२॥

जहां मात्र प्राणों से प्यारा, आतमराम दिखाता है ।
आतम के अप्रिय दलबल को, जहां न नाद सुनाता है ॥
जहां ज्ञान में ज्ञान मगन है, जो है स्वयं मुक्ति का द्वार ;
व्युपरतक्रियानिर्वर्ति वहीं बस, होता शुक्लध्यान अविकार ॥

जहां केवल आतमराम की ही झाँकी दिखाई देती है, आत्मा के विभावों की जहाँ छाया भी नहीं दिखती तथा ज्ञान में ही जहाँ पर ज्ञान लीन है, वहीं पर व्युपरतक्रियानिवर्ति शुक्ल ध्यान के दर्शन होते हैं ।

ज्ञानं चौविहि उत्तं, विज्ञानं जानंति सुद्ध ससहावं ।
विज्ञान ज्ञान सुद्धं, कम्म विमुक्क लहै निव्वानं ॥८५३॥

जिनशासन में कहे गये हैं, जो भी चार भांति के ध्यान ।
जिनके पदचिन्हों पर चलकर, उनका मैंने किया बखान ॥
जिस मानव के ज्ञानकोष में, है अविकार भेदविज्ञान ।
वह कर्मों का पाँश तोड़कर, निश्चय पा जाता निर्वाण ॥

जिनशासन में जो चार भांति के ध्यान कहे गये हैं मैंने उन्हीं का यहाँ वर्णन किया है । जिस मानव के पास भेदविज्ञान रूपी शस्त्र रहता है, वह निश्चय ही कर्मों को पाँश तोड़कर निर्वाण को प्राप्त हो जाता है ।

आरति रितिय सुभावं, आरति संसार कारनं निश्चै ।
आरति कुज्ञान सुभावं, दंसन मोहंध आरति असुद्धं ॥८५४॥

शोक, दुख, पीड़ा या चिन्ता, करती हैं जिस थल में वास ।
होता उस थल में निश्चय से आर्तध्यान का मलिन निवास ॥
होता है इस कुटिल ध्यान में, भव के बीजों का भंडार ।
दर्शन-मोह विमूढ़ित प्राणी रचता है इसका संसार ॥

जहां पर शोक, दुख, पीड़ा या चिंता वास करते हैं वहां निश्चय से ही आर्तध्यान निवास करता है । यह कुटिल ध्यान संसारबंध का कारण होता है । और जो दर्शनमोह विमूढ़ित प्राणी होता है, वह निश्चय ही इस आर्तध्यान को अंग लगाता रहता है ।

तंबोलं तवजुत्तं, आरति सभाव सयल परिनामो ।
कुसुमं कुन्नान जुत्तं, न्नान सहावेन कदापि उववन्नं ॥८५५॥
लेपं लिपत सुभावं, लिप्तं कम्मान राग विषयं च ।
भूषन पुन्य सहावं, सल्यं संजुत्त आरति भनियं ॥८५६॥

******

होता आर्तध्यान का भाई, ताम्बूल के सदृश स्वभाव ।
रहता है इस आर्तध्यान में, विविध प्रसूनों का सद्भाव ॥
आर्तध्यान में इस जगती के, सभी लेप दिखलाते हैं ।
भूषण भी इस आर्तध्यान को, निज उपमेय बनाते हैं ॥

******

आर्तध्यान का ताम्बूल या भूषण के समान स्वभाव होता है, जिसमें सब प्रकार के लेप विद्यमान रहते हैं ।

रौद्रं रौद्र स दिट्ठं, रौद्रं परिनाम कठिन संजुत्तं ।
असत्य अनृत भावं, उदुपाद परमाद रौद्र न्नानस्थं ॥८५७॥

******

रौद्रध्यान वह है कि जहां पर, रौद्र भाव देखे जायें ।
कलुषित और कठोर परिणमन जहां भ्रमर से मंडरायें ॥
हो मिथ्या श्रद्धान जहां पर, और जहां हो मिथ्याज्ञान ।
हों उन्माद प्रमाद जहां पर, रौद्रध्यान बस वहीं सुजान ॥

******

जहां पर रौद्र भावों का सद्भाव हो, कठोर और कलुषित परिणमन हों, मिथ्या श्रद्धान हो, मिथ्या ज्ञान हो तथा जहां उन्माद और प्रमाद हों, बस वहीं रौद्र ध्यान की सृष्टि होती है ।

बन्धं असुद्ध बन्धं, असुहं भावं च असुह परिनामं ।
बन्धंति त्रिविह भावं, बन्धं कम्मान तिविह संजुत्तं ॥८५८॥

******

होते हैं अज्ञान भरे जो, अशुभ भाव के दृढ़ बंधन ।
रौद्र ध्यान धारी नित उनमें, बंधा किया करता क्रन्दन ॥
मलिन कषायों के कुचक्र में, फंसकर रौद्रध्यान धारी ।
सींचा करता है कर्मों को, नित त्रियोग से फुलबारी ॥

******

अज्ञान से भरे जो अशुभ भावों के दृढ़ बंधन होते हैं, रौद्रध्यान के धारी उन्हीं में बंधे रहकर संसार में नित्यप्रति क्रन्दन किया करते हैं ।

✱

डहनंति असुह भावं, डहिओ सुह कम्म समल भावं च ।
षट्काई जीवानं, विहारनं विदारनं भनियं ॥८५९॥

******

होते हैं जो रौद्र भाव से, निष्ठुर परिणामों के द्वार ।
उनके सरल शुद्ध भावों का, मिट जाता सारा संसार ॥
षट्कायिक जीवों के बधके, लगते रहते उनको पाप ।
और इस तरह वे कर्मों से, बंधते रहते अपने आप ॥

******

रौद्रध्यान के धारी पुरुषों के नित्यप्रति खोटे और हिंसक भाव ही बने रहते हैं । शुद्ध भाव उनके हृदय में आने ही नहीं पाते । उनको षटकाय के जीवों के वध की नित्यप्रति हिंसा लगी रहती है, और इस तरह वे अपने आप पाप के बन्धनों में बंधते रहते हैं ।

मारन जीव अभावं, अजीव असुद्धस्य सहाव संजुत्तं ।
रौद्रभाव स सहावं, रौद्रध्यानं च संजदो भनियं ॥८६०॥

******

जहां प्राणियों को हत्या या, बध का तो है पूर्ण अभाव ।
किन्तु जहां पर इस पुद्गल की ममता में जकड़ा है भाव ॥
वहां न वध है, किन्तु वहां भी रौद्रध्यान ही है ज्ञानी ।
होते हैं संयमधारी भी, ऐसे कई रौद्रध्यानी ॥

******

जहां प्राणियों की हत्या का तो अभाव है, किन्तु जहां पुद्गल की ममता में ही मन जकड़ा हुआ है । वहां भी रौद्र ध्यान ही होता है और अनेकों संयमधारी पुरुष भी, इस ध्यान से अछूते नहीं रह पाते ।

*

धरयंति धम्म झानं, चेयन रूवेन मनुव संवरनं ।
सुद्ध सहावं उत्तं, चेयन चेयंति धम्म झानत्थं ॥८६१॥

******

धर्म ध्यान को धरने वाले, आत्मध्यान ही धरते हैं ।
मर्कट से इस चंचल मन को, वे नित वश में करते हैं ॥
श्री जिनेन्द्र प्रभु कहते हैं जो धरते धर्मध्यान अभिराम ।
होते हैं उनके अति कोमल, सरल और सुन्दर परिणाम ॥

******

धर्मध्यान को धरने वाले प्राणी सदा आत्मचिंतवन ही करते रहते हैं । उनके अति सुन्दर और कोमल परिणाम होते हैं ।

पदस्तं पद विंदन्तो, अक्षर स्वर विंजनस्य स सरूवं ।
पदं पदार्थं सुद्धं, अप्पा परमप्प निम्मलं विमलं ॥८६२॥

है पदस्थ वह ध्यान, पदों से होवे जहां पदों का ध्यान ।
अक्षर स्वर व्यंजन से होवे, जहां पदों का मनन महान ॥
पद क्या है, आतम पद ही बस, सर्वश्रेष्ठ है हे भाई ।
"मेरा आतम परमातम है, यही चिन्तवन सुखदाई" ॥

जहां अक्षर, स्वर या व्यंजनों से पदों का ध्यान हो वहीं पदस्थ ध्यान होता है । संसार में आतम ही बस सर्वश्रेष्ठ पद है, जिसमें 'आतमा ही परमात्मा है' बस इस पद का सदैव चिंतवन होता रहता है ।

सुध सरूव चिंतवनं, असुहं मिच्छात राग विरयंमि ।
विषयं तिसल्य तिक्तं, पदविंद सुद्ध निम्मल स सरूवं ॥८६३॥

शुद्ध पदस्थ ध्यान वह ही है, जहां आत्मा से हो राग ।
जहां इंद्रियों के विषयों का, लिप्साओं का हो परित्याग ॥
जहां न भव भव का दुखकारी, दिखलावे मिथ्यात्व महान ।
है पदस्थ बस वहीं जहां पर, दिखलायें आतम भगवान ॥

जहाँ आत्मा से राग हो और इन्द्रिय के विषयों का त्याग हो, बस वहीं पदस्थ ध्यान है । जहाँ मिथ्यात्व नहीं दिखलाता और निरन्तर आतम भगवान के ही दर्शन होते रहते हैं, वहीं पदस्थ ध्यान होता है ।

पिंडं ज्ञान सपिंडं, ज्ञान सहावेन पिंड सद्भावं ।
तिक्तन्ति असुद्ध पिंडं, अनृत असरन असत्य तिक्तन्ति ॥८६४॥

आतम क्या है ? प्रखर ज्ञान का एक अलौकिक पिंड महान ।
जिसके साथ अनादि काल से काम पिंड है सना सुजान ॥
वही ध्यान पिंडस्थ कि जिसमें, आत्मपिंड से तो हो राग ।
किन्तु पुद्‌गलों के पिंडों का, पूर्ण कर दिया जाये त्याग ॥

आत्मा ज्ञान का एक प्रखर पुंज है, जिसके साथ अनादि काल से पुद्‌गल का संयोग रहता चला आ रहा है । पिंडस्थ ध्यान वही होता है जो आत्मा का तो ध्यान करे किन्तु पुद्‌गल को पूर्णतयः ही भूल जावे ।

पिंड सरूवं सुद्धं, रूवं संजुत पिंड विरयंमि ।
ज्ञानमयो पिंडस्थं ऊत सास्वतेन पिंड चिंतनं ममलं ॥८६५॥

आत्मपिंड सर्वांग शुद्ध है, इसमें कोई नहीं विकार ।
मूर्तिमान पुद्‌गल हैं सारे, किन्तु मलों के पारावार ॥
है पिंडस्थ ध्यान बस वह हो, जहां पुद्‌गलों से मन मोड़ ।
ज्ञानमयी ध्रुव आत्मपिंड से, साधक ले निज नाता जोड़ ॥

आत्मपिंड में कोई विकार नहीं होता, जहां कि पुद्‌गल सारे विकारों के केन्द्र होते है । पिंडस्थ ध्यान वह ही होता है जो आत्मा का तो ध्यान करे और पुद्‌गल को तृण के समान त्याग देवे ।

रूवस्तं चेयन रूवं, चिद्रूपं विमल निम्मलं सुद्धं ।
वर्नं रूव विरयंतो, स सरीरं रूव चिंतनं सुद्धं ॥८६६॥

******

अपना आतमदेव विमल है, है सत् चित् आनन्द स्वरूप ।
परसन, रसना, गंध, वर्ण से, है विहीन वह त्रिभुवन भूप ॥
मैं अपनी काया नगरी में, हूं साक्षात सिद्ध भगवान ।
आत्मदेव का यही चिन्तवन, है रूपस्थ ममल सद्-ध्यान ॥

******

अपना आतमा, स्पर्श, रसना, गंध और वर्ण से पूर्ण रहित, सत्, चित, आनंदस्वरूप परमब्रह्म है । मैं अपनी काया में स्वयंसिद्ध भगवान हूँ । जहाँ आत्मा का इस प्रकार चिन्तवन होता है, बस वहीं रूपस्थ ध्यान होता है ।

रूवं रूव स सुद्धं, असुह परिनाम सयल विरयंतो ।
सुद्धं सरूवं पिच्छदि, रूवस्तं विमल निम्मलं सुद्धं ॥८६७॥

******

निर्मल से निर्मल स्वरूप यदि, किसी द्रव्य का कहीं सुजान ।
तो वह इस त्रिभुवन के भीतर, आतम का ही है मतिमान ॥
आत्मद्रव्य में कहीं न दिखता, परभावों का अंधियारा ।
जो आतम परमातम चीन्है, बस रूपस्थ वही प्यारा ॥

******

संसार में यदि कोई निर्मल पदार्थ है तो वह है आत्मा । जो आत्मा की परमात्मा से पहिचान कराये, वही रूपस्थ ध्यान होता है ।

रूवातीत स उत्तं, तिक्तं रूवेन विगत रूवं च ।
अविगत परमानन्दं, विगतं संसार सरनि मोहंधं ॥८६८॥

++++++

निराकार, निर्मूर्त तत्व का, जहां चिन्तवन हो पावन ।
परमानंद परमप्रभु का हो, जहां मनन नित मन भावन ॥
दिखता नहीं रंच जिसमें हो, लहराता भव पारावार ।
रूपातीत ध्यान वह ही है, अजर, अमर सुख का आगार ॥

++++++

जहाँ निराकार, निर्मूर्त आत्म तत्व का ही निरन्तर ध्यान हो, संसार के सुखों का जहां नेक भी चिन्तवन न हो, बस वहीं रूपातीत ध्यान होता है ।

✿

गय संकप्प वियप्पं, मिच्छा कुन्नान सयल विरयंमि ।
चेयन सहाव सुद्धं, रूवातीतं च धम्म ध्यान स सहावं ॥८६९॥

++++++

दृश्यमान होते न जहां पर, कोई भी संकल्प विकल्प ।
मिथ्याज्ञान तिमिर की कोई, जहां न परछाई हो अल्प ॥
होते हों छविमान जहां पर, नितप्रति ही आतम भगवान ।
होता है बस एक वहीं पर, रूपातीत ध्यान मतिमान ॥

++++++

जहां पर किसी प्रकार के संकल्प विकल्प नहीं दिखाते, मिथ्याज्ञान की जहां परछाई भी नहीं दिखती, केवल आतम भगवान ही जहां प्रतिबिम्बित होते हैं, बस वहीं रूपातीत ध्यान होता है ।

सून्यं सुद्ध सद्दावं, सून्यं संसार सरनि मिच्छातं ।
विषय रागमइ सून्यं, अप्पा परमप्प भाव निम्मलयं ॥८७०॥

******

शुक्ल ध्यान का इस आतमवत् ही है भव्यों शून्य स्वभाव ।
भव-भ्रमणों से पूर्ण शून्य वह, नहीं वहाँ भव का सद्भाव ॥
राग—द्वेष से मल-पुंजों की, भी न वहाँ जलती अंगार ।
दिखती वहाँ एक चिन्मूरत, किये सदा अभिनव सिंगार ॥

******

शुक्ल ध्यान का आत्मा के समान ही शून्य स्वभाव होता है । इस ध्यान में संसार की कोई लहर आंखों के सामने नहीं आती और न वहाँ रागद्वेष आदि की कोई मलिन झांकी ही दिखाई देती है । दृश्यमान पदार्थ में वहाँ केवल एक आत्मा ही होता है, जो ज्ञान नेत्रों को प्रतिपल अपनी झलक दिखाया करता है ।

✻

आज्ञा अकीर्णत्वं, अनृत तिक्त ति असुद्ध परिणामं ।
आज्ञा सुद्ध सद्दावं, जिन उवएस विमल निम्मलं भावं ॥८७१॥

******

जिन प्रभु कहते हैं, हे भव्यों ! छोड़ो तुम अचेत परिणाम ।
मिथ्या परिणामों में रमकर, दुर्गति में न बनाओ धाम ॥
जिनकी वह आज्ञा धारणकर, जो ध्यानाग्नि जगाता है ।
आज्ञा विचय ध्यान धारण कर, वह सब कर्म खिपाता है ॥

******

जिनेन्द्र भगवान कहते हैं कि तुम अचेत परिणामों को छोड़कर निर्मल परिणाम धारण करो । जिनेन्द्र भगवान की आज्ञा धारण कर जो ध्यानों का आराधन करता है, वह आज्ञा विचय नाम का ध्यान धारण करता है ।

अपायं परमं ज्ञानं, अप्पानं परम सुद्ध सद्भावं ।
विरयं मूढ़ सुभावं, सुद्धं स सरूव निम्मलं सुद्धं ॥८७२॥

++++++

श्री जिनेन्द्र प्रभु यह कहते हैं, जो है यह आतम अविकार ।
वह भवरोग नाशने का है, सर्वश्रेष्ठ त्रिभुवन उपचार ॥
मिथ्यात्वों को पीठ दिखा जो, आतम ध्यान हो धरते हैं ।
विचय अपाय धर्मध्यानी बन, वे भव शोषण करते हैं ॥

++++++

श्री जिनेन्द्र प्रभु कहते हैं कि यह आत्मा भवरोगों को नष्ट करने की सर्वश्रेष्ठ औषधि है । जो मिथ्यात्वों को छोड़कर आत्मा का ध्यान धरते हैं वे विचय अपाय नामक धर्मध्यान धरते हैं ।

✱

विचयं विमल सुद्दावं विमल ज्ञानेन केवलं निश्चे ।
केवल दंसनं सुद्धं, अप्पा परमप्प जंति निव्वानं ॥८७३॥

++++++

श्री जिनेन्द्र प्रभु यह कहते हैं, इस आतम का मनन महान ।
आतम का ही अर्चन, वन्दन, और आतम का ही श्रद्धान ॥
करते हैं जो ज्ञानी पंडित, विचय ध्यान वे धरते हैं ।
आतम से परमातम बन वे, प्राप्त सिद्ध पद करते हैं ॥

++++++

जो आत्मा का ही मनन और आत्मा का ही वंदन करते हैं, वे ज्ञानी पंडित विचय ध्यान धारण करते हैं, ऐसा जिनेन्द्र प्रभु कहते हैं । और वे इस ध्यान के फलस्वरूप निश्चय से निर्वाण प्राप्त करते हैं ।

धम्म रयन संजुत्तं, धम्मं धरयंति ममल सहकारं ।
ज्ञानं ज्ञान सहावं, परमप्पा परम जानेहि संजुत्तं ॥८७४॥

रत्नत्रय से जगमग जगमग ध्यान रत्न जो धरते हैं ।
ममल ज्ञान के दीपक से वे, ज्ञान प्रज्वलित करते हैं ॥
मोक्ष पंथ के जो राही हैं, जिनको जाना है उस पार ।
उन्हें उचित है वे कि करें नित, आतम वीणा की झंकार ॥

जो रत्नत्रय से मंडित आत्मा का ध्यान करते हैं, वे अपने ज्ञान की ज्योति को नित्य-प्रति प्रखरवान बनाते हैं। जिन्हें संसार से उतरना है, उन्हें नित्य प्रति अपने आत्मा का ही आराधन करना चाहिये।

पंच सम्यक्त्व:

आज्ञा समय जिनुत्तं, जिन दिट्ठं परम केवलं ज्ञानं ।
ज्ञान दिस्टि उवएसं, निश्चय रूवेन विमल ज्ञान सद्दहनं ॥८७५॥

केवल ज्ञान दृगों से जिनने, प्राप्त किया जो विस्तृत ज्ञान ।
उसी परम ध्रुव, ममल ज्ञान को, कहते हैं 'आगम' विद्वान ॥
अंगीकृत कर उसी ज्ञान को, करना उस पर ध्रुव श्रद्धान ।
कहलाता है जिनशासन में, यह 'आज्ञा' सम्यक्त्व महान ॥

जिनेन्द्र भगवान ने जो वचन आगमों में कहे हैं, उन पर श्रद्धान करना, बस इसी का नाम आज्ञा सम्यक्त्व है।

जिन उत्तं अप्पानं, मिच्छा भावं च तिक्त कुन्नानं ।
उत्तं चेयन भावं, विन्नान अप्प सुद्ध सद्दहनं ॥८७६॥

जिन प्रभु कथित आत्म को ही बस, कहना इस त्रिभुवन में सार ।
असत, अचेतन कुज्ञानों से, करना नहीं रंच भी प्यार ॥
भेद ज्ञान की दिव्य दृष्टि से, जपना नित प्रति आतमराम ।
निश्चयनय से एक वही बस है 'आज्ञा' सम्यक्त्व ललाम ॥

जिन प्रभु के कहे हुए आत्मा को ही सर्वश्रेष्ठ तत्व निरूपित करना, असत अचेत कुज्ञानों से सदा दूर रहना तथा भेद ज्ञान पूर्वक अपने आत्मा का आराधन करना, बस इसी का नाम आज्ञा सम्यक्त्व है ।

आज्ञा सुद्ध सरूवं, सुद्धं देवं च सुद्ध गुरु धर्मं ।
मिच्छा अनृत तिक्तं, आज्ञा सम्मत्त निम्मलं भावं ॥८७७॥

"देव" कौन है निज आतम ही, कौन 'गुरो' आतमराई ।
धर्म' कौन है अन्य न कोई, बस आतम ही सुखदाई ॥
सब कलुषित मिथ्यात्व छोड़कर, करता जो ऐसा श्रद्धान ।
बस वह ही साधक धरता है, ध्रुव 'आज्ञा सम्यक्त्व' महान ॥

आतमा ही देव है, आतमा ही शास्त्र है तथा आतमा ही धर्म है, जो इसमें निश्चल श्रद्धान रखता है, वही आज्ञा सम्यक्त्व का पालन करता है ।

वेदक वेद संजुत्तं, वेद वेदांत वेदतो नित्यं ।
अप्पा पर वुज्झंतो, परचवई ति अप्प सुद्ध सद्‌भावं ॥८७८॥

******

है वेदक सम्यक्त्वी वह हो, जो हो आत्मज्ञान आगार ।
द्वादशांग वाणी का जिसने, जान लिया हो पूरा सार ॥
निज स्वरूप को और कि जिसको, हो पर की सम्यक् पहिचान ।
आतम तत्व का क्या स्वरूप है, हो जिसको यह पूरा ज्ञान ॥

******

आत्म ज्ञान का जो भंडार रहता है, द्वादशांग वाणी को जो पूर्ण रूपेण जानता है तथा जिसे निज की और परकी पहिचान रहती है, बस वही वेदक सम्यक्त्वी कहलाता है ।

*

पदविंजन विंदंतो, असरन संसार सयल दोस विवरीदो ।
अप्पा अप्पम्मि रओ, अप्पा परमप्प निव्वुए जंति ॥८७९॥

******

जिनवाणी के अक्षर अक्षर, पद पद का जो हो ज्ञाता ।
शरणहीन इस भव से कोई, रंच न हो जिसका नाता ॥
जिसका आतम गाता हो नित, आतम के ही मनहर गीत ।
है वेदक सम्यक्ती वह हो, जो जाता निर्वाण पुनीत ॥

******

जो जिनवाणी का पूर्णरूपेण ज्ञाता हो; संसार से जिसका कोई संबंध न हो तथा नित्य प्रति जो आत्मा के ही गीत गाता हो वही साधक वेदक सम्यक्त्वी जाना जाता है । और वही निश्चय से निर्वाण को प्राप्त होता है ।

उवसम उवसन्त कषायं, उवसम रागदोष विषयभावं च ।
मिच्छा कुज्ञान तिक्तं, उवसमनं सुद्द असुद्दस्य परिनामं ॥८८०॥

•••••

पूर्णरूप हो गया जहां पर, चार कषायों का उपशम ।
उपशम विषय कषाय हो गये, उपशम हुआ राग दुर्दम ॥
जहां नहीं मिथ्यात्व मोह का, कर्कश नाद सुनाता है ।
उसी गगन में बस उपशम का, ध्रुव तारा दिखलाता है ॥

•••••

जहाँ चार कषायों का, संसार की समस्त विषय वासनाओं का उपशम हो गया तथा जहां मिथ्यात्व मोह के बंधन टूट गये वही उपशम सम्यक्त्व के दर्शन होते हैं ।

■

क्षय उवसम संजुत्तु, क्षपनक रूवेन अप्प सद्भावं ।
अप्पा सुद्धप्पानं, परमप्पा सुद्ध निम्मलं चित्तं ॥८८१॥

•••••

जिसके प्याले में नित छल छल, करते क्षय उपशम के भाव ।
अपने में जो जान रहा हो, सब कर्मों का पूर्ण अभाव ॥
जो अपने आतम को कहता, शुद्ध बुद्ध निष्फल अभिराम ।
वही एक साधक होता है उपशम सम्यक्तो निष्काम ॥

•••••

जिसमें क्षयोपशम उत्पन्न हो गया है, तथा अपने में जो कर्मों का पूर्ण अभाव अनुभव करता है, वही उपशम सम्यक्त्वी साधक कहलाता है ।

क्षायिक क्षपनक रूवं, क्षिपियो संसार सरनि मोहंधं ।
रागदोष, मिच्छातं, कम्ममल पयडि सयल क्षयऊनं ॥८८२॥

++++++

क्षय उवसम सुद्ध सहावं, अप्पा अप्पेन अप्पनो निश्चं ।
गय संकप्प वियप्पं, क्षायिक सम्मत्त सुद्ध धुव निश्चं ॥८८३॥

++++++

समकित अवरोधक कर्मों के, क्षय से प्रकटा जिसका रूप ।
सूख गया है जिसका बिल्कुल, दर्शन मोह नाम का कूप ॥
रागद्वेष का मोह मदों का, रचतो है जो नित संसार ।
ऐसी कर्मों की प्रकृतियों को भी जो कर देता क्षार ॥

++++++

क्षय, उपशम, क्षय–उपशम से हैं, जिसके तीनों शुद्ध स्वरूप ।
जिसमें यह निश्चय है, 'मैं ही हूँ सत्‌चित् आनंद स्वरूप ॥
जहाँ नहीं संकल्प विकल्पों का भ्रमजाल दिखाता है ।
वहीं एक क्षायिक समकित या ध्रुव सम्यक्त्व कहाता है ॥

++++++

जहां कर्मों की सप्त प्रकृतियों का नाश हो गया है । संकल्प विकल्प आदि के जहां समस्त बंधन टूट चुके तथा आत्मा ही परमात्मा है जहां यह बोध हो चुका है वहीं क्षायिक सम्यक्त्व के दर्शन होते हैं ।

सुद्धं सुद्ध सहावं, सुद्ध सरूवं च निम्मलं भावं ।
अप्पा परमप्पानं, परमप्पा लहै निव्वानं ॥८८४॥

निर्मल, शुचि, सम्यग्दर्शन ही, है आतम का शुद्ध स्वभाव ।
वह स्वभाव रागादिक मल का, रहता जिसमें पूर्ण अभाव ॥
सोहं और शिवोहम का जब ध्यान लगाया जाता है ।
तो वह आतम परमातम का अक्षय पद पा जाता है ॥

सम्यग्दर्शन ही आत्मा का शुद्ध स्वभाव है, जिसमें रागादि दोषों का पूर्ण अभाव रहता है । जब अपने शुद्ध स्वभाव का ध्यान किया जाता है, तो वह आतमा परमात्मा का पद पा जाता है ।

पंचाचार

दरसन सुद्ध सहावं, दर्संति लोय ज्ञान सहकारं ।
ज्ञानेन ज्ञान सुद्धं, दरसन चरनस्य निम्मलं त्रिमलं ॥८८५॥

सम्यग्दर्शन है आतम का, निर्मल विमल, विशुद्ध प्रकाश ।
करता है जो ज्ञान युक्त हो, नित्य प्रकाशित लोकाकाश ॥
दर्शन युक्त ज्ञान ही केवल, केवल ज्ञान जगाता है ।
और दर्शनाचार इसीसे मुक्ति पंथ कहलाता है ॥

सम्यग्दर्शन ही आत्मा का विशुद्ध स्वभाव है, जो ज्ञान के पुञ्ज से लोकालोक को प्रकाशित करता है । दर्शन युक्त ज्ञान ही केवल ज्ञान को जगाने में समर्थ होता है और इसीलिये दर्शनाचार को मुक्ति का मार्ग कहा जाता है ।

दर्सन अनन्त रूवं, अनन्त दर्सन विमल सुद्ध दरसेई ।
मिच्छात कम्म विलयं, दरसन चरनस्य जन्ति निब्बानं ॥८८६॥

******

जो अनन्ततम रूप, अनन्तों दर्शन का होता धारी ।
इस आतम में दर्शन रखता, सम्यक् श्रद्धा सुखकारी ॥
जो निर्ग्रंथ साधु करता है, पालन शुद्ध दर्शनाचार ।
वह मिथ्यात्व कर्म क्षय करके, हो जाता भवसागर पार ॥

******

जो अनन्त दर्शन का धारी होता है, उस आत्मा में सम्यग्दृष्टी पूर्ण श्रद्धान रखता है। जो निर्ग्रन्थ साधु दर्शनाचार का पूर्णरूपेण पालन करता है, वह मिथ्यात्व क्षय करके, भव सागर से पार हो जाता है।

✵

ज्ञान चरन संसुद्धं, ज्ञानं आचरण केवलं ममलं ।
विषयं च राग विरयं, अप्पा परमप्प ज्ञान आचरनं ॥८८७॥
ज्ञानं ज्ञान सरूवं, कुज्ञानं तजंति मिच्छ सद्भावं ।
अप्प सरूव सहावं, परमप्पा सुद्ध ज्ञान आचरनं ॥८८८॥

******

ज्ञान-आचरण हो इस जग में, एक आचरण है सुखकार ।
निजानन्द रसको सावन सो, जिसमें नित्य बरसतो धार ॥
रागादिक विषयों की जिसमें, जलती कभी न दिखतो आग ।
नित्य सुनातो है बस जिसमें, आतम परमातम को राग ॥
जहां ज्ञान की बातो से नित, जलता रहता ज्ञान दिया ।
असत्, अचेत, अनृत, भावों से, होता रहता शुद्ध हिया ॥
'सोहं' और 'शिवोऽहम' का ही, सुन पड़ता है जहां निनाद ।
जहां निरंतर पाता रहता, आतम परमातम का स्वाद ॥

******

ज्ञान संयुक्त आचरण ही इस संसार में सर्वश्रेष्ठ आचरण है जिसमें निजानन्द रस की अविरल धार बहा करती है। इस आचरण में रागादिक दोष नहीं पाये जाते हैं, केवल परमात्म तत्व का संगीत ही इसमें सुनाई देता है।

वीर्जं वीर्जं सुद्धं, वीर्जं अंकुरन ज्ञान सहकारं ।
चरनं अप्प सरूवं, चरनं वीर्जं च सुद्ध मप्पानं ॥८८९॥

✦✦✦✦

वीर्य शक्ति या बल आतम का, है चिर जन्म सिद्ध अधिकार ।
और वीर्य बस वही, ज्ञान का जो लहराता पारावार ॥
आत्म रमण ही है इस त्रिभुवन तल में वीर्याचार महान ।
क्योंकि ज्ञान का पिंड एक है, और कि वह आतम भगवान ॥

✦✦✦✦

वीर्य या शक्ति आत्मा का जन्मसिद्ध अधिकार है, जो निरन्तर ज्ञान में रमण किया करता है । सबसे बड़ा वीर्याचार इस संसार में केवल आत्मरमण ही है क्योंकि आत्मा लोकाकाश में सबसे बड़ा ज्ञानपिण्ड है ।

■

अप्पानं अप्पानं, अप्पा सुद्ध ध्यान निरू निश्चं ।
परमपयं सुध रूवं, वीर्जं आचरन निव्वुए जंति ॥८९०॥

✦✦✦✦

आतम ही—आतम ही केवल, शुद्ध ज्ञान का है आधार ।
आतम में ही बस रहती है, शुद्ध ज्ञान की कल कल धार ॥
आतम ही बस त्रिभुवन तल में, शुद्ध परम पद है भाई ।
वीर्याचरण यही बस निशिदिन, आत्मरमण ही सुखदाई ॥

✦✦✦✦

इस संसार में केवल आत्मा ही शुद्ध ज्ञान का आगार है—शुद्ध परमपद है, और इसी से आत्मा में रमण करना, सबसे बड़ा वीर्याचरण है ।

तव आचरन सहावं, अप्प सहावेन सुद्ध तव चरनं ।
सुद्धं सुद्ध सरूवं, तव आचरनं निम्मलं भावं ॥८९१॥

******

आतम का जो सत् स्वभाव है, जगमग करता जिसमें ज्ञान ।
उसी ज्ञान में लय हो जाना, कहलाता तप यही सुजान ॥
शुद्ध विशुद्ध ज्ञान का जग में, जो प्रकाश बिखराता है ।
निर्मल होकर उसी आतम में, रमना तप कहलाता है ॥

******

आत्मा के सत् स्वभाव में लीन होने का नाम ही तप है। जो संसार में ज्ञान का प्रकाश बिखेरता है, उसी आत्मा में रमण करने का नाम ही वास्तविक तप है।

✷

कम्ममल मुक्त रागं, मिथ्या विषयं च तिक्ति कषायं ।
अप्पा अप्प सरूवं, सहकारेन चरन तव चरनं ॥८९२॥

******

जहां कि चेतन कर्म मलों से, पूर्ण मुक्त दिखलाता है ।
विषय कषायों का कर्कश स्वर, जहां नहीं सुन पाता है ॥
जहां दिखाते हैं नयनों में नित प्रति हो बस आतमराम ।
होती है बस एक वहां हो तपाचार पावन अभिराम ॥

******

जहाँ जीव कर्म मलों से पूर्ण विमुक्त दिखलाता है तथा विषय कषायों का जहां कोलाहल नहीं सुनाई देता है, आत्मा के उसी शुद्ध स्वभाव में लीन होने का नाम तपाचार कहा गया है।

चरनंपि सुद्ध भावं, चरनं अप्पान निम्मलं रूवं ।
थिर दिठि दंसनममलं, चारित्र चरन सुद्ध संजमं रूवं ॥८९३॥

आतम के पवित्र भावों को, कहते हैं चारित्र सुजान ।
निर्मल भावों के समूह को, कहते हैं चारित मतिमान ॥
सम्यग्दर्शन में रमना ही, है सुन्दर निर्मल चारित्र ।
संयम के रथ में चलना ही, है सम्यक्चारित्र पवित्र ॥

सम्यक् चारित्र क्या है ? आत्मा के पवित्र भावों का नाम ही सम्यक्चारित्र है—निर्मल भावों के समूह का नाम ही सम्यक्चारित्र है । सम्यग्दर्शन में रमण करने का नाम ही सम्यक्-चारित्र है और संयम के वशीभूत होकर चलना, इसी का नाम ही चारित्र है ।

चरनं अप्प सहावं, चरनं परम परभाव सुद्धान ।
घाय चवकय मुकं, चरनं चारित्र परम निव्वानं ॥८९४॥

आतम का जो सत् स्वभाव है, है चारित्र वही अभिराम ।
परभावों से निस्पृहता हो, है चारित्र मनोज्ञ ललाम ॥
है चारित्र वही जो कर दे, चतुर्घातिया मल का नाश ।
और वही चारित्र कि जो बस, पहुँचा दे शिव-रमणी पास ॥

जो आत्मा का सत्स्वभाव है उसी का नाम सम्यक्चारित्र है—परभावों से निस्पृहता, इसी का नाम सम्यक्चारित्र है—चारित्र वही जो चतुर्घातिया कर्मों का नाश कर दे और चारित्र वही जो अंत में मोक्ष महल पहुँचा दे ।

पंचाचार स उत्तं, पंञ्चाचरन तिक्त संसारे ।
गय संकप्प वियप्पं, पंञ्शाचरनं च सुद्ध निव्वानं ॥८९५॥

++++++

भव्यों होते हैं बस वे ही, केवल निर्मल पंचाचार ।
भव समुद्र में डूब रहों का, कर देते हैं जो उद्धार ॥
बाहु पकड़कर भव जीवों को, जो उस पार लगाते हैं ।
जहां नहीं संकल्प विकल्पों के भ्रम–जाल बिछाते हैं ॥

++++++

पंचाचार कौन से ? केवल वही जो भव समुद्र में डूबते हुओं का उद्धार करदे और वहां पहुंचा दे जहां संकल्प विकल्पों का भ्रम–जाल दृष्टिगोचर ही नहीं होता ।

ग्रंथकार के दो शब्द

■

ज्ञान समुच्चय सारं, उवइट्ठं जिनवरेहि जं ज्ञानं ।
जिन उत्तं ज्ञान सहावं, सुद्धं घ्यानं च ज्ञान समुच्चय सारं ॥८९६॥

++++++

ज्ञान समुच्चय सार ग्रंथ है, उसी ज्ञान का अविकल सार ।
श्री जिनेन्द्र रूपी वारिद से, बरसा जो बनकर जलधार ॥
श्री जिनेन्द्र प्रभु यह कहते हैं, आत्म रमण ही सच्चा ध्यान ।
ज्ञान समुच्चय सार ग्रंथ है, आत्म रमण का ही विज्ञान ॥

++++++

यह ज्ञान–समुच्चयसार ग्रंथ, उसी ज्ञान का भंडार है जो श्री जिनेन्द्र देव के मुख से अवतरित होकर धरती पर बरसा है । श्री जिनेन्द्र भगवान ने कहा है कि आत्मरमण ही संसार में सच्चा ध्यान है और यह ग्रंथ आत्मरमण–विज्ञान का ही पुंज है ।

ज्ञान समुच्चय भनियं, सद्दहनं रूव भेद विज्ञानं ।
ज्ञानं ज्ञान सरूवं, षवइ संसार सरनि मोहंधं ॥८९७॥

******

शुद्ध बुद्ध सत् चित् स्वरूप में, करके अडिग सुदृढ़ श्रद्धान ।
और अंधविश्वास नहीं, पर लेकर तीक्ष्ण भेद विज्ञान ॥
जो कोई इस ज्ञान सिन्धु में ज्ञान ज्योति ले आयेगा ।
नष्टकर वह नर, निश्चय हो तर जायेगा ॥

******

शुद्ध, बुद्ध, सतचित आत्मा में अडिग श्रद्धान लेकर जो इस आध्यात्मिक—सागर में स्नान करेगा अंध विश्वास के साथ नहीं, पर तीक्ष्ण भेद विज्ञान की दृष्टि लेकर वह मनुष्य दर्शन मोह को नष्ट करके अवश्य ही संसार से पार हो जायगा ।

*

ज्ञानेन ज्ञान जोयं, जोयं थिर दिट्ठि दंसनं ममलं ।
जोइय निय अप्पानं, अप्पा परमप्प सुद्ध निव्वानं ॥८९८॥

******

ज्ञान ज्योति ही से जगती है, अमर ज्ञान की ज्योति महान ।
और ज्ञान ही से होता है, दृढ़तर से दृढ़तम श्रद्धान ॥
श्रद्धा से ही निज आतम में, परमातम दिखलाता है ।
और यही वह मोड़ कि जो बस, मुक्ति नगर को जाता है ॥

******

ज्ञान से ही अमर ज्ञान की ज्योति जगती है और ज्ञान से ही श्रद्धा में उज्ज्वलता आती है । श्रद्धा से आत्मा में परमात्मा दृष्टिगोचर होता है और श्रद्धा ही मनुष्य को मुक्ति प्रदान करने में समर्थ होती है ।

जाने दिट्ठं समतं, पिच्छे त्रिमल दंसनं सुद्धं ।
तं थिर भाव सवभं, चरनं चारित्र सुद्धमप्पानं ॥८९९॥

++++++

मुक्ति प्रदायक शुचि दर्शन का, जो नर नित्य करेंगे पान ।
श्रवण—मनन दर्शन का कर जो, नित्य करेंगे उसका गान ॥
वे अपने सत् चित् स्वरूप में, सुस्थिर दृढ़ हो जायेंगे ।
और एक दिन वे आतम से, परमातम बन पायेंगे ॥

++++++

जो दर्शन में दृढ़ रहेंगे, श्रवण मनन और दर्शन का जो नित्य चिन्तवन करेंगे, वे अपने आत्मा में स्थित परमात्मा को प्राप्त कर एक दिन अवश्य ही परमपद को पा जायेंगे ।

✱

दव्वकाय पिच्छंतो, तत्त पदार्थं च सुद्ध संजुत्तो ।
संसार सहाव विमुक्को, अप्पा परमप्प केवलो सुद्धो ॥९००॥

++++++

द्रव्य, तत्व, काया, पदार्थ से, करके भली भाँति पहिचान ।
और शुद्ध भावों का लेकर, अंतर में अनमोल निधान ॥
सम्यग्दृष्टी पा जाता है, भव स्वभाव से छुटकारा ।
कर लेता है प्राप्त और वह, केवल रत्न परम प्यारा ॥

++++++

द्रव्य, तत्व, काया आदि पदार्थों से जानकारी कर तथा शुद्ध भावों का पाथेय लेकर सम्यग्दृष्टी भव समुद्र से छुटकारा पा जाता है और एक दिन केवल ज्ञान का निधान बन जाता है ।

ज्ञान समुच्चय सारं, असरन भाव सयल तिक्तं च ।
सारं सुद्ध सहावं, सारं च स्वरूव निम्मलं सुद्धं ॥९०१॥

ज्ञान समुच्चय सार ग्रंथ का, केवल एक यही है सार ।
छोड़ो वह संसार कि जो है अशरण और दुखों का द्वार ॥
उपादेय है इस जगती में, केवल अपना आतमराम ।
उसी आत्म का करो चिन्तवन, जपो उसी आतम का नाम ॥

ज्ञान समुच्चय सार ग्रंथ का यही निष्कर्ष है कि इस दुखों के घर, अशरण संसार को छोड़कर, केवल अपने आत्मा का ही चिन्तवन करो । संसार हेय है, आत्मा उपादेय ।

ज्ञानेन ज्ञान सहावं, कुज्ञान तजंति सयल मिच्छातं ।
ज्ञान समुच्चय सुद्धं, ज्ञान सहावेन जंति निव्वानं ॥९०२॥

ज्ञान दिये से ही जलती है, अगम ज्ञान की चिर बाती ।
जहां ज्ञान फिर कुज्ञानों की, वहां न छाया दिखलाती ॥
ज्ञान रश्मियों से हो जाता, जब यह आतम ज्ञानाकार ।
तब यह आतम यहां न रहकर, हो जाता है भव के पार ॥

ज्ञान के प्रकाश से ही आत्म ज्ञान की बाती प्रज्वलित होती है । जहां ज्ञान होता है वहां कुज्ञान का क्या काम ? जब यह आत्मा ज्ञान से अलंकृत हो जाता है, तब वह यहां का वासी न रहकर शिवपुर का वासी बन जाता है ।

सयल जन बोहनत्थं, जिनमग्गे जिनवरेंद्र जं उत्तं ।
जिन उत्तं सहकारं, ज्ञान संजुत्त लहइ निव्वानं ॥१०३॥

++++++

इस विशाल भव से कैसे हों, कोटि २ ये भव जन पार ।
इसी ध्येय को ले जिन प्रभु ने, जिनवाणी का किया प्रसार ॥
श्री जिनेन्द्र की इस वाणी पर, जो लायेंगे दृढ़ श्रद्धान ।
ज्ञान अलंकारों से सज वे, पावेंगे ध्रुव पद निर्वाण ॥

++++++

संसार के प्राणियों को पार करने के लिये ही श्री जिनेन्द्र प्रभु ने जिनवाणी का प्रसार किया है । जो वीतराग प्रभु की इस वाणी पर श्रद्धान लायेंगे, वे अवश्य ही निर्वाण के पात्र बनेंगे ।

दंसेइ मोक्ष मग्गं, ज्ञान सहावेन दंसनं ममलं ।
चरनं संजम जुत्तं, संजुत्तो लहै निव्वानं ॥१०४॥

++++++

यह जिनवाणी, जो आतम का पद पद गीत सुनाती है ।
इस भव के अशरण जीवों को, मुक्ति पंथ दिखलाती है ॥
ज्ञानयुक्त जो हो करते हैं जिनवाणी मां पर श्रद्धान ।
वे संयम चारित्र पालकर, पा जाते हैं पद निर्वाण ॥

++++++

आतम के पद पद गीत सुनाने वाली, जो अशरण शरणा जिनवाणी पर श्रद्धान करते हैं, वे संयम चारित्र पालकर, निर्वाण पद प्राप्त कर लेते हैं ।

ज्ञान समुच्चय सारं, जिनवर उवएस कहिय सहकारं ।
एको उद्देस उत्तं, कम्म क्षय कारन निमित्तं ॥१०५॥

******

जिन प्रभु के आगम ग्रंथों से पाया जो कुछ मैंने ज्ञान ।
उसी ज्ञान का संबल लेकर रचा सुजन यह ग्रंथ महान ॥
ग्रंथ नहीं इसलिए लिखा है, मैं कुछ दूं तुमको उपदेश ।
मेरे प्रखर कर्मक्षय होवें, निहित यही इसमें उद्देश्य ॥

******

जो कुछ मैंने जिनेन्द्र भगवान के आगम ग्रंथों से पाया है, उसी ज्ञान के सहारे मैंने इस ग्रंथ की रचना की है। मैंने उपदेश देने के लिये ग्रंथ नहीं रचा है, किन्तु इसलिये कि इससे मेरे प्रखर कर्म क्षय हो जावें।

*

जिन उवएसं सारं, किंचित् उवएस कहिय सद्भावं ।
तं जिन तारन रइयं, कम्म क्षय मुक्तिकारनं सुद्धं ॥१०६॥

******

श्री जिनेन्द्र ने उपदेशों की, जो बरसाई है जलधार ।
उसकी कुछ बूंदें चुन, मैंने उनका यहां दिया है सार ॥
'तारणजिन' कहते हैं भाई, ग्रहण करेगा जो यह नीर ।
अचल सत्य, कट जाएगी उसके कर्मों की जंजीर ॥

******

श्री जिनेन्द्र प्रभु ने उपदेशों की जो वर्षा की है, उसी की कुछ बूंदे इकट्ठी कर, मैंने यह ग्रंथ बनाया है। तारणजिन कहते हैं कि जो इन बूंदों का पान करेगा, उसके कर्मों की जंजीर निश्चय ही कट जावेगी।

भावेन भाव सुद्धं अप्पा परमप्प विमल स सहावं ।
तं भव्वजीव सरनं, आराहन जुत्तु निव्वुए जन्ती ॥१०७॥

******

यह निश्चय है, भावों से हो, होते हैं सब भाव विशुद्ध ।
और भाव वह सिद्ध प्रभो सा, मैं भी हूं ध्रुव शुद्ध विशुद्ध ॥
भव सागर में डूब रहों को यही भाव है शरण महान ।
करते जो इसका आराधन, वे पाते ध्रुव पद निर्वाण ॥

******

भावों से ही सारे भाव विशुद्ध होते हैं और शुद्ध भाव यही हैं, कि मैं भी सिद्ध भगवान के समान ही ध्रुव हूँ, शुद्ध हूं, और विशुद्ध हूं, भव सागर में डूबते हुए प्राणियों को यही भाव एक मात्र शरण है और जो इन भावों में डूबे रहते हैं, वे संसार से एक दिन अवश्य ही पार हो जाते हैं ।